

श्रीगद् वारिष्ठाप सूरि निधिः
प्रगता विर्त्तय

अनुवाद-कामाक्षर
डॉ कृष्णसुलभी जौह
मुक्तायामना (अमृ)

-: प्रकाशक :-

अनेकांत ज्ञान मंदिर शोध संस्थान
बीना(आगर) म090 470113
फोन नं0 :- (07580) 30279

विषयालुक भागिका

प्रकाशकीय	3
आत्माभिव्यक्ति	5
प्राककथन	6
प्रस्तावना	8
प्रमाण लक्षण निर्णय	1
प्रत्यक्ष प्रमाण निर्णय	19
परोक्ष प्रमाण निर्णय	45
अनुमान निर्णय	
आगाम निर्णय	88

प्रकाशकीय

जैन न्याय के सूर्ख्याला, तार्किक, हितोमणि, आचार्य वादिराज सूरि विरचित प्रमाण निर्णय ग्रंथ मूल एवं हिन्दी अनुवाद सम्पादन के साथ प्रथम बार प्रकाशित करते हुए गौरव का अनुभव हो रहा है। लगभग ८५ वर्ष पूर्व माणिकचन्द्र दिग्गे जैन ग्रंथमाला बम्बई द्वारा वीर निं० संवत् २४४३ में ग्रंथमाला के दशम् पुष्प के रूप में मूल ग्रन्थ का प्रकाशन किया गया था। बहुत लम्बे समय से ग्रंथ अप्राप्य था।

न्यायाचार्य डॉ० दरबारी लाल कोठिया, बीना के पास न्याय ग्रन्थों के अध्ययन का सुअवसर मेरे लिए प्राप्त हुआ। डॉ० कोठिया जी सदैव प्रेरणा देते रहते थे कि जिन न्याय ग्रन्थों को हम प्रकाश में नहीं ला पाये हैं, उन ग्रन्थों को प्रकाश में लाने का कार्य आपको करना है।

विद्वानों की नगरी बीना में अनेकांत ज्ञान मंदिर शोध संस्थान की स्थापना कर दुर्लभ अप्राप्य ग्रन्थों का संकलन, संरक्षण एवं प्रचार—प्रसार के दुरुह कार्य को अपने निर्बल कांधों पर लेकर मौं भारती की सेवा का व्रत लेकर अपने सम्पूर्ण जीवन को साहित्यक सेवा में अर्पित कर अपने पूज्य गुरुवर श्री १०८ सरल सागर जी महाराज से भी न्याय ग्रन्थों की उपयोगिता एवं जिज्ञासा को प्राप्तकर एक नई जीवन ज्योति मिली।

अनेकांत ज्ञान मंदिर शोध संस्थान, बीना का यही पवित्र उद्देश्य है कि अप्रकाशित अथवा बहुमूल्य, दुर्लभ, अति उपयोगी ग्रन्थों को प्रकाशित कर आर्व परम्परा को सुरक्षित करें। इस दिशा में संस्थान शानैः शानैः अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा है।

आचार्य वादिराज जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रमाण विषयक विपुल सामग्री प्रस्तुत कर इस लघुकाय ग्रन्थ को उपयोगी बना दिया है। न्याय जैसे दुरुह ग्रन्थों का शब्दशः अनुवाद करना सरल कार्य नहीं है किन्तु जैन न्याय की विदुषी डॉ० सूरजमुखी जैन ने निःस्वार्थ रूप से ग्रन्थ अनुवाद का कार्य करके बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की है। डॉ० सूरजमुखी जी अनेकांत ज्ञान मंदिर के उत्तरोत्तर विकास में संलग्न हैं। आप द्वारा मौं सरस्वती की जो सेवा की जा रही है, वह अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय है।

जैन दर्शन के मनीषी डॉ० जयकुमार जैन ने प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थ के महत्त्व को बढ़ा दिया है। परम पूज्य गुरुवर श्री १०८ सरलसागर जी महाराज के प्रति भी कृतज्ञतावश नमोस्तु करता हूँ कि आपने भी ग्रन्थ के अनुवाद को देखकर प्रकाशन हेतु प्रेरणा दी।

ग्रन्थ का अनुवाद लगभग एक वर्ष पूर्व हो चुका था किन्तु प्रकाशन के कार्य में अनेक अदरोधक कारण आते रहे। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु आर्थिक सौजन्यता जिनवाणी उपासक श्री सुखपाल जैन इंजीनियर, भुवनेश्वर ने सहज ही दी, अतः स्व० पिता श्री अतरसेन जैन एवं स्व० मातुश्री फिरोजीदेवी बड़ीत की पुण्य स्मृति में उनके सुपुत्र श्री सुखमाल जैन, श्री सुखपाल जैन एवं श्री अशोक जैन के आर्थिक सौजन्य से ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है। एतदर्थं ये सभी धन्यवाद के पात्र हैं।

अनेकांत भवन ग्रन्थ रत्नावली १.२ की भव्य प्रस्तुति के बाद प्रमाण निर्णय ग्रन्थ आप सभी के समक्ष है। पाठकों को वह विश्वास दिलाते हैं कि आप सभी के अजनात्मक सहयोग से अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी समय—समय पर शुताराधकों के लिए संस्थान द्वारा प्रकाशित होते रहेंगे।

प्रूफ एवं मुद्रण सम्बंधी त्रुटियाँ रह सकती हैं एतदर्थं विद्वानों से निवेदन है कि वे हमें अवगत करायें ताकि अगले संस्करण में संशोधन किया जा सके।

ब्र० संदीप सरल
संस्थापक
अनेकांत द्वान् मंदिर शोध संस्थान
बीना (सावर) म०प्र०

आत्माभिव्यक्ति

ग्रन्थ प्रकाशन के अवसर पर सर्वप्रथम मैं जैन शाला विश्राम धर्मकुंज धनुमुरा, आसा (बिहार) की अधिष्ठात्री दिव्यमता भमलानवी मां पूज्या १०५ आर्यिकारत्न श्री चन्द्रबाई जी के चरणों में अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करती हूँ, जिनकी वात्सल्यभयी छत्रछाया में रहकर मुझे जैन दर्शन और जैन न्याय के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मैं अपने अद्वैत गुरुज्ञान डा. नेमिधन्द ज्योतिषाचार्य को भी नतमस्तक प्रणाम करती हूँ, जिनके अदृष्ट वात्सल्य और सतत प्रयास से ही मैं यत्किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर सकी हूँ और जो जीवनपर्यन्त मेरा मार्गदर्शन करते हैं।

मैं अनेकान्त ज्ञान भविर शोध संस्थान बीना के प्राणप्रदाता श्री ब्र. संदीप 'सरल' जी को भी विनम्र प्रणाम करती हूँ, जिनकी प्रेरणा से मैं न्याय जैसे दुर्लभ विषय में कार्यस्त हुई और जिन्होंने प्रभाणनिर्णय ग्रन्थ के साथ—साथ न्यायविषयक अन्य सन्दर्भ ग्रन्थों को भी उपलब्ध कराकर मुझे हर प्रकार से यथोष्ट सहयोग प्रदान किया, तथा अनेकान्त ज्ञान भविर शोध संस्थान बीना से पुस्तक प्रकाशन का भी उत्तरदायित्व लेकर मुझे प्रकाशन भार से भी मुक्त रखा। जैन दर्शन और जैन न्याय के सम्बन्धित विद्वान् डा. जयकुमार जैन प्रवक्ता संस्कृत विभाग, सनातन धर्म कालेज, मुजफ्फरनगर की भी मैं हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने अनुवाद की पाण्डुलिपि को आद्योपान्त पढ़कर आवश्यक सुझाव देने तथा प्राक्कल्पन लिखने का अनुग्रह किया है। मैं श्री सुमेरचन्द जैन, सम्पादक वर्णी प्रवक्ता, मुजफ्फरनगर के प्रति भी कृतशङ्का झापन करना अपना परम कर्तव्य समझती हूँ, जिन्होंने अपने निजी पुस्तकालय से न्याय विषय पर पूज्य १०५ क्षुल्लक भनोहर लाल वर्णी जी के प्रवचनों को सुलभ कराकर मेरी न्याय की गुरुत्थायों को सुलझाने में सहयोग प्रदान किया है। इनके अतिरिक्त भी मैंने जिन ग्रन्थों एवं पुस्तकालयों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस अनुवाद कार्य में प्रयोग किया है, उन सबके प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

मैं अपने पति श्री शीतलप्रसाद जैन सेकानिवृत्त बी. डी. ओ. की भी हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने गृहकार्यों में आवश्यक सहयोग देकर मुझे लेखन कार्य की सुविधा प्रदान करने के साथ—साथ पुस्तक कागज, कलम आदि आवश्यक समायी जुटाकर मुझे हर प्रकार की सहायता दी है। उनके सतत सहयोग के बिना मेरे लिये यह कार्य अतिदुष्कर था।

डा. सूरजमुखी जैन
अलका, ३५२ इमामबादा
मुजफ्फरनगर
पूर्व प्राचार्यी

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति के सर्वांगीण ज्ञान के लिए वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों धाराओं से समाहृत साहित्य का मूल्यांकन अपरिहार्य है। एक विशिष्ट भारतीय परम्परा के रूप में जैनों ने वाङ्मय की महत्वपूर्ण सेवा की है। सुप्रसिद्ध इतिहास विद्वान् डॉ. एम. विन्टरनिल्ज ने लिखा है—

"I was not able to do justice to the literary achievements of the Jainas. But I hope to have shown that the Jainas have contributed their full share to the religious, ethical and scientific literature of ancient India."

विद्वान् समीक्षक के कथन से स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में जैनों की देन का पूर्णांग आकलन करना अत्यन्त आवश्यक है और वह कार्य अब तक भी यथेष्ट रूप में नहीं हो सका है। जैन समाज में जब पुस्तकों के नाम पर यद्वा तद्वा अपार्थक साहित्य प्रचुर मात्रा में छप रहा हो, तब वादिराज सूरि जैसे समर्थ मध्ययुगीन भारत के अग्रगण्य प्रतिभू महाकवि एवं न्यायशास्त्री के ग्रन्थों का राष्ट्र भाषा तक में अनुवाद प्रकाशित न हो पाना जैन समाज के लिए महान् शर्म की बात है।

वादिराज सूरि संस्कृत साहित्य के लघ्वप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। भले ही उनकी सम्पूर्ण कृतियों का विधिवत् सांगोपांग अध्ययन न हो पाया हो परन्तु उनके सरस एकीभाव स्तोत्र से भक्त धार्मिक समाज, न्यायविनिश्चय विवरण एवं प्रमाण निर्णय से सुधी तार्किक समाज तथा यशोधरवर्चित एवं पाश्वनाथ चरित से सहृदय साहित्य रसिक समाज सर्वथा सुपरिचित है। आज से लगभग ढाई दशक पूर्व जब मैंने वादिराज सूरि कृत पाश्वनाथ चरित पर पी. एच. डी. की उपाधि के निमित्त काशी हिन्दू दिश्विद्यालय में शोधकार्य प्रारंभ किया था, तब उनके अन्य ग्रन्थों पर भी विहंगम दृष्टि डालने का अवसर मिला था।

प्रमाणनिर्णय, प्रमाणमीमांसा विषयक एक लघुकाय किंतु महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यार अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में वादिराज सूरि ने भगलाघरण में तीर्थकर वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करके प्रमाण निर्णय के वर्णन की प्रतिज्ञा की है। अध्यायों का नामकरण विषयवस्तु के आधार पर किया गया

है। प्रथम अध्याय का प्रमाण लक्षण निर्णय, द्वितीय अध्याय का प्रत्यक्ष निर्णय, तृतीय अध्याय का परोक्ष निर्णय और चतुर्थ अध्याय का नामकरण आगम निर्णय है। इस ग्रन्थ में जैन न्याय सम्बत प्रमाणत्रय का विवेचन है। अद्यावधि इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई अनुवाद, टीका टिप्पणी या व्याख्या उपलब्ध नहीं थी।

डॉ. सूरजमुखी जैन, सेवानिवृत्त प्राचीर्य—स्थानकवासी जैन कालेज शहौल ने 'सर्वग्रन्थम् इत्यका' हिन्दी में अनुवाद किया है। इस अनुवाद के पढ़ने से उनके परिश्रम, सूझा बूझा एवं न्यायसदृश कठिन विषय को सरल शब्दों में प्रतिपादन की क्षमता के दर्शन होते हैं। मैं आशा करता हूँ कि प्रमाणनिर्णय की अनुवादिका यहीं विराम नहीं लेगी तथा वादिराज सूरि के न्याय विनिश्चय विवरण पर भी हिन्दी में समीक्षा व्याख्या लिखेंगी ताकि उनके न्यायशास्त्रज्ञता का लाभ न्याय के अन्य जिझासुओं को भी मिल सके।

प्राचीन आचार्यों की कृतियों को आधुनिक पद्धति से सम्यादित कराके प्रकाशित करना समाज का कर्तव्य है। इस कृति के प्रकाशन की बेला में मैं अनेकान्त ज्ञान मंदिर बीना के सर्वस्व श्री ब्र. संदीप 'सरल' जी एवं डॉ. सूरजमुखी जैन को प्रणाम करता हूँ तथा डॉ. जैन से अधेक्षा करता हूँ कि वे साहित्य संपर्क में और अधिक अवदान से समाज को उपकृत करें।

डॉ. जयकुमार जैन
मुजफ्फरनगर (उ०प्र०)

प्रस्तावना

प्रमाण निर्णय ग्रन्थ के विवेकन से पूर्व ग्रन्थकार का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करना आवश्यक है। अतः मैं सर्वप्रथम ग्रन्थकार आचार्य वादिराज सूरि के व्यक्तित्व और कृतित्व की रूपरेखा प्रस्तुत कर रही हूँ।

प्रमाण निर्णय ग्रन्थ के रचयिता वादिराज सूरि दार्शनिक, चिन्तक और महाकवि के रूप में विद्युत हैं। ये उच्चकोटि के तार्किक होने के साथ भावप्रबण काव्य के प्रणेता भी हैं। डॉ. नेमिनन्द शास्त्री ज्योतिषाचार्य के अनुसार इनकी तुलना जैन कवियों में सोमदेव सूरि से और अन्य सांस्कृत कवियों में नैषधकार श्री हर्ष से की जा सकती है।^१

आचार्य वादिराज सूरि द्वितीय संघ के आचार्य थे। इनमें भी एक नन्दि संघ था, जिसकी अख्यात शाखा के अन्तर्गत इनकी गणना की गयी है।^२

वादिराज की षट्कर्षणमुख, स्याह्नाद विद्यापति और जगदेवमल्लवादी उपाधियां थीं।^३

एक शिला लेख में कहा गया है कि वादिराज सभा में अकलंकदेव, धर्मकीर्ति, बृहस्पति और अक्षपाद गौतम के तुल्य हैं। स्पष्ट है कि वादिराज अनेक धर्मगुरुओं के प्रतिनिधि थे।^४

मलिलेण प्रशस्ति में वादिविजेता श्री विदेव कवि के रूप में इनकी उल्लेख की गयी है। इन्हें जिनेन्द्र के समान वस्त्रा और चिन्तक बताया गया है।^५

एकीभाव स्तोत्र के अन्त में एक पद्म के ह्रास समस्त वैयकरणों, तार्किकों, कवियों और सज्जनों को वादिराज से हीन बताया गया है।^६

वादिराज श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि के कर्ता दयापाल मुनि के गुरुभाई थे।^७

१. तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, डॉ. नेमिनन्द ज्योतिषाचार्य, भाग ३, पृ.८८
२. वही, भाग ३, पृ.८८
३. षट्कर्षणमुख स्याह्नादविद्यापति गलु जगदैकमल्लवादिगलु एशिसिद श्री वादिराज दैवरूम—श्री राङ्ग स्त्रा सम्पादित नगर तालुका का इन्सकपशन्स नं. ३६
४. सदसियदकलड़क कीर्तने धर्मकीर्तिर्वचसि सुरपुरोधा न्यायवादेदक्ष पाद। इति समयगुरुणामेकतः संगतानां प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः इन्सकपशन्स नं.३८ जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं.५४, मलिलेण प्रशस्ति पद्म ४०
५. वादिराजमनु शाब्दिक लोको, वादिराजमनुतारकिंक सिंहः वादिराजमनु काव्य कृतस्ते, वादिराजमनुभव्य सहायः। एकीभावस्तोत्र, आचार्य वादिराज सूरि, २६ मलिलेण प्रशस्ति पद्म ३८

वादिराज की गुरु परम्परा मठाधीशों की थी, जिनमें दान लिया और दिया जाता था। ये स्वयं जिनमंदिरों का निर्माण करते, जीर्णोद्धार करते एवं अन्य मुनियों के लिये आहारदान की व्यवस्था करते थे। शक सं. १७२२ में उत्कीर्ण ५६५ संख्यक अभिलेख में बताया गया है कि घटदर्शन के अध्येता श्रीपाल देव के स्वर्गदासी होने पर उनके शिष्य वादिराज ने परवादिमल्ल नाम का जिनालय बनवाया था और उसके पूजन एवं मुनियों के आहारदान हेतु भूमिदान दिया था।

वादिराज सूरि के विषय में कहा जाता है कि इन्हें कुछ रोग हो गया था। एक बार राजसभा में इसकी चर्चा हुई तो इनके एक अनन्य भक्त ने गुरु के अपवाद के भय से झूठ ही कह दिया कि उन्हें कोई रोग नहीं है। इस पर वाद विवाद हुआ। अन्त में राजा ने रवर्ण ही परीक्षा करने का निश्चय किया। अस्त घबराया हुआ वादिराज के पास पहुंचा और उन्हें समस्त घटना कह सुनायी। गुरु ने भक्त को आश्वासन देते हुए कहा—धर्म के प्रभाव से सब ठीक होगा। चिन्ता न करो। तभी वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र की रचना की और इनका कुछरोग दूर हो गया।

स्थितिकाल

वादिराज ने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में रचनाकाल का निर्देश किया है। ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रथयिता प्रभाद्यन्द के समकालीन और अकलोकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता है। कहा जाता है कि चालुक्य नरेश जयसिंह की राजसभा में इनका बड़ा सम्मान था एवं ये प्रख्यात वादी भाने जाते थे। जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलंकी वंश के प्रसिद्ध महाराजा थे। इनके राज्य काल के कितने ही दानपत्र तथा अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें सबसे पहला अभिलेख शक संवत् ६३८ (ई. सन् १०७६) का है और सबसे अन्तिम शक संवत् ६६४ (ई. सन् १०४२) का है। अतः इनका राज्यकाल सन् १०७६ से १०४२ ई. तक है।

वादिराज ने अपना पाइर्वनाथ चरित जयसिंह देव की राजधानी में रहते हुए शक सं. ६४७ (ई. सन् १०२५) कार्तिक शुक्ल तृतीया को पूर्ण किया था।¹

यशोधरचरित के तृतीय सर्ग के अन्तिम पद्म और चतुर्थ सर्ग के उपान्य पद्म में कवि ने महाराज जयसिंह देव का उल्लेख किया है, जिससे विदित होता है कि यशोधरचरित की रचना भी कवि ने जयसिंह देव के समय में ही की है।

वादिराजसूरि जगदेकमल्ल ह्वारा सम्पादित हुए थे, जिनका समय अनुमानतः सन् १०१० से १०३२ के मध्य का है। अतः वादिराज सूरि का समय १०१० ई. सन् से १०६५ ई. सन् तक का होना चाहिये।

1. शाकाद्ये नगवार्षिरन्द्रगणे संवत्सरे कौधने। मासे कार्तिक नाम्नि दुद्धि भाहिते शुद्धे तृतीया दिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैमी कथेयं भया। निष्पत्ति गमिता सत्ती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये। पा. च. प्र. ५ पद्म।

रचनाएँ

वादिराजसूरि की अब तक प्राप्त रचनाओं में पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, स्वायत्तिनिश्चयविवरण, एकीभावस्तोत्र तथा प्रमाणनिर्णय ग्रन्थ हैं।

पार्श्वनाथ चरित—

महाकाव्य की दृष्टि से वादिराजसूरि का पार्श्वनाथचरित श्रेष्ठ काव्य है। इसमें ५२ सर्ग हैं। पार्श्वनाथ के प्रसिद्ध कथानक को ही कवि ने अपनाया है। यह कथावस्तु उत्तरपुराण में निबद्ध है।^१ संस्कृत भाषा में काव्य रूप में पार्श्वनाथ चरित को सर्वप्रथम लिखने का श्रेय वादिराज को ही है। संक्षेप में कथावस्तु निम्न प्रकार है—

पोदनपुर में अरविंद नाम का महाप्रतापी राजा रहता था। राजा दानी, कृपालु और यशस्वी था। इनका मंत्री विश्वभूति विलक्षण गुणों से युक्त था। विश्वभूति को संसार शरीर और भोगों से बैश्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने राजा से आज्ञा प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण कर ली। विश्वभूति के प्रदर्ज्या ग्रहण कर लेने पर राजा ने विश्वभूति के छोटे पुत्र मरुभूति को मंत्री नियुक्त कर दिया। विश्वभूति के बड़े पुत्र का नाम कमठ था।

एक बार मरुभूति को राजा के साथ युद्ध पर जाना पड़ा। मरुभूति के युद्ध पर जाने पर कमठ मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुआ। मंत्री पद प्राप्त करने के उपरान्त कमठ ने अपने लघु भ्राता मरुभूति की पत्नी वसुन्धरा के अनुपम सौन्दर्य पर मुख्य होकर वसुन्धरा द्वारा बधने का अथक प्रयास करने पर भी उसे अष्ट कर दिया। युद्ध से वापिस आने पर जब राजा को कमठ के दुराचार का पता चला तो राजा ने उसे नगर से निर्वासित कर दिया। कमठ तापसियों के आश्रम में रहने लगा। मरुभूति को अपने ज्येष्ठ भ्राता कमठ से बहुत प्यार था। राजा द्वारा सोके जाने पर भी भ्रातृवात्सल्य के कारण वह कुक नहीं सका और कमठ को वापिस लाने के लिये उसके पास पहुँच गया। उसे आता देख कमठ ने उसके ऊपर पर्वत की एक बहुत बड़ी चट्टान गिरा दी, जिससे उसका प्राणान्त हो गया। कमठ का मरुभूति के प्रति कई भवों तक एकाकी दैर चलता रहा, किंतु मरुभूति का जीव उससे कभी दैर विशेष नहीं रखता, वह सदैव उसकी भलाई करता रहता है। मरुभूति के जीव ने वज्रधोष हाथी, महाशुक स्वर्ग का देव, विद्युतदेव और विद्युत्माला का पुत्र रश्मिवेग, अच्युत स्वर्ग का देव, वज्रनाथ चक्रवर्ती आदि भवों को धारण कर अन्त में वाराणसी नगरी के राजा विश्वसेन की पत्नी ब्रह्मदत्ता के गर्भ से तीर्थकर का जन्म धारण किया, देवों द्वारा जन्मोत्सव मनाय गया और बालक का नामकरण पार्श्वनाथ किया गया।

युवा होने पर एक दिन एक अनुचर से उन्हें ज्ञात हुआ कि एक साधु वन में पञ्चानि लाप कर रहा है। अवधिज्ञान से पार्श्वनाथ को ज्ञात हुआ कि कमठ का जीव ही अनेक पर्यायों में अभ्यन्तरीन चक्रवर्ती आदि भवों को धारण कर कुतप कर रहा है। वे उस

2. उत्तरपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, ७३ पर्व, पृ. ४२६-४४२

तपस्की के पास पहुंचे और उसे समझाने का प्रयत्न किया कि यह तप नहीं कुतप है और जिस लकड़ी को वह जला रहा है, उसमें नाग भागिन जल रहे हैं, लकड़ी फाड़ कर नाय भागिन निकाले गये। पाश्वर्णनाथ ने उन्हें अभिकार मंत्र सुनाया, जिससे भरकर वे धरणेन्द्र पदभावती हुए और पाश्वर्णनाथ की पूजा की।

पाश्वर्णनाथ के विवाह के अनेक प्रस्ताव आये माता—पिता उनका विवाह करना चाहते थे, किंतु उन्होंने विवाह नहीं किया और 'पिरत' हो गये, 'लौकिकता' पैदों ने 'आकर उनका वैश्यवर्धन किया, पाश्वर्णनाथ ने वन में जाकर पंथमुष्टि द्वारा केशलोच कर दीक्षा धारण कर ली, दीक्षा लेते ही उन्हें भन्धर्यय ज्ञान हो गया, वे वन में प्रतिभायोग धारण कर स्थित हो गये। कमठ का जीव भूतानन्ददेव आकाश भार्ग से जा रहा था, पाश्वर्णनाथ के प्रभाव से उसका विमान रुक गया, उसकी दृष्टि पाश्वर्णनाथ पर पड़ी और पूर्व दैर का स्मरण कर उम पर बाण वर्षा करने लगा तो तीर्थकर के प्रभाव से धुष्यवृष्टि बन गयी। धरणेन्द्र पद्मावती को जब इस उपसर्ग का पता चला तो तत्काण वहाँ आकर उन्होंने उपसर्ग का निवारण किया। पाश्वर्णनाथ ने शुक्लध्यान द्वारा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय वारों धातिया कर्मों को नष्ट कर केवल ज्ञान प्राप्त किया, देवों द्वारा जयनाद को सुनकर भूतानन्द आश्चर्य घकित हो गया और स्वयं भी तीर्थकर की स्तुति करने लगा।

इन्द्र की आङ्गा से कुबेर ने समवशारण की रथना की, सभी प्राणी भगवान का उपदेश सुनकर प्रसन्न हुए। उत्पश्चात् एक मास का योगनिरोध कर वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र यारों अधातिया कर्मों को भी नष्ट कर भगवान ने निर्वाणलक्ष्मी को प्राप्त किया।

शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार पाश्वर्णनाथ चरित महाकाव्य है। इसमें १२ सर्ग हैं। मंगलस्तवन पूर्वक काव्य का प्रारंभ हुआ है। नगर, दन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, उषा, सम्भ्या, रजनी, चन्द्रोदय, प्रभात आदि प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन के साथ जन्म, विवाह, युद्ध, सामाजिक उत्सव, कृंगार, करुण आदि रसों का कलात्मक वर्णन फायदा जाता है। तीर्थकर के चरित के अतिरिक्त राजा महाराजा, सेठ—साहूकार, किरात—बील, चांडाल आदि के चित्रण के साथ पशु पक्षियों के चित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं।

प्रस्तुत काव्य का अंगी रस शान्त है और अंग रूप में शृंगार, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और रौद्र रसों का भी नियोजन पाया जाता है। चरित्र चित्रण की दृष्टि से भी यह सफल महाकाव्य है। प्रतिनायक कमठ ईर्ष्या द्वेष, हिंसा एवं अशुभ रागात्मक प्रवृत्तियों के कारण अनेक जन्मों में नाना प्रकार के कष्ट भोगता है, किंतु नायक मरुभूति का जीव प्रतिनायक के साथ सदैव सहानुभूति रखता है। प्रकृतिचित्रण और अलंकार योजना की दृष्टि से भी यह महाकाव्य उच्चकोटि का है।

यशोधरचरित-

यशोधरचरित हिंसा का दोष और अहिंसा का प्रभाव दिखाने के लिए बहुत लोकप्रिय रहा है। इस काव्य में चार सर्ग हैं—प्रथम सर्ग में ६२ पद्य, द्वितीय में ७५, तृतीय में ८३ और चतुर्थ में ७४ पद्य हैं इसकी कथा वस्तु सोमदेव के यशस्विलक्षणम् में वर्णित कथा के अनुसार ही है, जो निम्न प्रकार है—

भरतक्षेत्र के अवन्ति जनपद की राजधानी उज्जयिनी के राजा यशबन्धु और उनकी रानी चन्द्रमती के यशोधर नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक बार अपने सिर पर श्वेत कला को देखकर राजा यशबन्धु को वैराग्य हो गया, उन्होंने अपने पुत्र यशोधर को राज्य संभाल कर दीक्षा धारण कर ली। यशोधर का राज्याभिषेक के साथ ही अमृतमती के साथ विवाह भी खूब धूमध्याम से सम्पन्न हुआ।

रानी अमृतमती अष्टभंग नामक कुबड़े महावत की संगीत—ध्वनि से आकृष्ट होकर उस पर रीझ जाती है और यशोधर को कपट प्रेम प्रदर्शित करते हुए गुप्त रूप से उस कुबड़े महावत के साथ विलास करने लगती है। राजा यशोधर रानी के इस कपट व्यवहार को जानकर अत्यधिक ड्रेडसिन्न रहने लगता है। उक्तमहाड़ से द्वितीय विवाहीता का कारण पूछने पर वह अनिष्ट स्वधन दर्शन बताकर अपने पुत्र यशोमति को राज्य देकर सन्यास लेने की इच्छा व्यक्त करता है।

राजभाता यशोधर को अनिष्ट की शान्ति के लिये घण्डमारीदेवी के भीदिर में पशुबलि चढ़ाने का उपाय बताती है। पशुहिंसा के लिये किसी भी तरह यशोधर के तैयार न होने पर वह उससे आटे का मुर्गा बनाकर उसकी बलि चढ़ाने को कहती है। राजभाता की बात को स्खने के लिये यशोधर आटे के मुर्ग की बलि चढ़ाने को सहमत हो जाता है। अमृतमती एक ओर तो यशोधर से कपट प्रेम दिखाते हुए उसे सन्यास लेने से रोकती है, दूसरी ओर आटे का मुर्गा बनाते समय उसमें विष मिला देती है, प्रसाद के रूप में जिसे खाकर यशोधर और उसकी माँ चन्द्रमती दोनों की मृत्यु हो जाती है।

आटे के मुर्ग की बलि चढ़ाने के कारण मृत्यु के बाद दोनों माँ बेटे छः जन्मों तक पशु योनि में भटकते रहे। प्रथम जन्म में यशोधर मोर हुआ, उसकी माँ चन्द्रमती कुत्ता हुई, दूसरे जन्म में यशोधर हिरण हुआ, माँ सर्प, तीसरे जन्म में वे दोनों लिङ्गा नदी में जलजन्मतु हुए, चतुर्थ जन्म में दोनों बकरा बकरी हुए, पंचम जन्म में यशोधर बकरा और माँ भैसा हुई, छठे जन्म में यशोधर मुर्गा और चन्द्रमती मुर्गी यनी।

मुर्गा, मुर्गी के जन्म में आचार्य सुदत्त का उपदेश सुनकर उन्हें अपने पूर्व जन्म का सरण हुआ और अपने किये पर पश्चात्ताप भी। अतः अगले जन्म में वे राजा यशोमति के वहाँ उनकी रानी कुसुमाबलि के गर्भ से मुगल भाई बहिन के रूप में उत्पन्न हुए। उनके नाम थे अभयरूचि और अभयमती। एक बार राजा यशोमति के साथ दोनों भाई बहिन आचार्य सुदत्त के दर्शन के लिये गये, वहाँ आचार्य सुदत्त से अपने पूर्वभावों का वृत्तान्त जानकर दोनों भाई बहिनों को वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होंने तत्काल दीक्षा ग्रहण कर ली। एक बार आचार्य से आङ्गा प्राप्त कर दोनों साधु साध्वी भिक्षाटन के लिये नगर में पहुंचे, तभी

राजा भारिदल के कर्मचारी उन्हें पकड़कर राजा के पास देवी के मंदिर में नर युगल की बलि अद्वाने के लिये ले गये। राजा के हारा उन सुन्दर नर युगल से उनका परिचय पूछने पर उन्होंने सम्पूर्ण वृत्तान्त राजा को बताया, जिसे सुनकर राजा भी आश्चर्यकित रह गया और उनके शुरु आचार्य सुदत्त के पास जाकर स्वयं भी दीक्षा धारण कर ली।

काव्य गुणों की दृष्टि से यशोधर चरित समृद्ध काव्य है। इस अलंकार और उक्ति वैशिष्ट्य के साथ कथावस्तु में मर्मस्पृशी रथलों की सफल योजना की गयी है, व्यञ्जनाकृति का भी कवि ने उपयोग किया है। इस काव्य में संगीत का महत्व भी दिखाया गया है। संगीत में कितनी शक्ति है, यह रानी अमृतमती की घटना से सिद्ध है। अष्टभ्रग के कुछ अधेड़ और वीभत्स आकृति होने पर भी उसके कानून में अमृत है, यही कारण है कि रानी इस पर मुख्य ही जाती है।

एकीभाव स्तोत्र—

इस स्तोत्र में भक्तिभावना का महत्व प्रदर्शित किया गया है। भक्तिभाव में तन्मय होकर स्तोत्र की रथना से ही कवि का कुछ रोग दूर हो गया था। इस स्तोत्र में २६ पद्य और २५ पद्य मन्दाकान्ता में हैं और एक पद्य स्वागता में। आचार्य स्तोत्र के प्रारंभ में ही कहते हैं—

एकीभावं गत इव मया यः स्वयं कर्मबन्धो,
धौरं दुःखं भवभवगतो दुर्निवाप्तं करोति ।
तस्याभ्यस्य त्वयि जिनरवे भक्तिरुन्मुक्तयेवेत्
जेतुं द्वक्षो भवति न तया कोऽपर रसापहेतुः ॥¹

हे भगवान जब आपकी भक्ति से भव भव में दुःख देनेवाला कर्मबन्ध भी दूर हो जाता है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है, तो अन्य सांसारिक संताप के कारण दूर हो जायें तो इसमें क्या आश्चर्य है?

भक्तिभाव में तन्मय होने पर समस्त मंगलों के हार खुल जाते हैं। आचार्य इसी तन्मयता की स्थिति का चित्रण करते हुए कहते हैं—

आनन्दाश्रुस्नपित वदनं गदगदं वाभिजलपन् ,
यास्यादेत त्वयि दृढमनाः स्तोत्रमन्त्रैर्भवन्तम् ।
तस्याभ्यस्तादपि च सुच्छिरं देह वल्मीकमध्यान् ,
निष्काश्यन्ते विष्व व्याधयः काद्रवेयाः ॥²

हे भगवान आपमें स्थिर चित्त होकर हर्षश्रुओं से किलिपत गदगद वाणी से स्तोत्र मन्त्रों हारा आपकी जो पूजा करता है, उसकी बहुत समय से रहने वाली व्याधियां भी शरीर से ऐसे ही निकल भागती हैं जैसे कि सपेरे की बीन को सुनकर सर्प बामी में से निकल पड़ते हैं।

१. एकीभाव स्तोत्र, वादिराज सूरी, १

२. एकीभाव स्तोत्र, वादिराज सूरी ३.

वे कहते हैं कि आधके स्वर्ग से पृथ्वी पर आने से छः माह पूर्व ही देवों द्वारा अस्तित्वानुष्टि करके इस पृथ्वीतल को सुवर्णमय बना दिया गया था तो जब आप ध्यानस्त्रीपी द्वारा से मेरे अस्ताकरण में प्रविष्ट हो चुके हैं तो मेरा शरीर भी स्वर्णमय हो जाय तो क्या आश्वर्य है?

ग्रामेवेह लिहितभवत्तादेवत्ता भव्यापुण्यात्
पृथ्वीवर्क कनकमयता देवनिन्येत्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तरोहं प्रविष्टः
तत्त्वं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि।¹

फहा जाता है कि इस स्तोत्र के प्रारंभ करते ही कवि का कुछरोग कम होने लगा था और उक्त ईलोक को पढ़ते ही समस्त कुछरोग दूर हो गया और शरीर स्वर्ण की तरह चमकने लगा।

न्यायविनिश्चय विवरण—

अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय नामक तर्क ग्रन्थ लिखा है। आचार्य वादिराज ने इस तर्क ग्रन्थ पर अपना विवरण लिखा है, जो बहुत ही महस्वपूर्ण है। इन्होंने पक्षों को समृद्ध बनाने के लिए अगणित ग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं। इन्होंने अपनी इस टीका का नाम न्यायविनिश्चयविवरण रखा है।

प्रणिपत्य स्थिरभक्तया गुरुन् परानन्दुदारबुद्धिगुणान् न्यायविनिश्चय विवरण
भभिरमणीयं मया कियते।¹

वादिराज द्वारा लिखित भाष्य का प्रमाण बीस हजार ईलोक प्रमाण है। इन्होंने मूल वार्तिक पर अपना भाष्य लिखा है। न्यायविनिश्चय विवरण की रचना मौलिक शैली में हुई है। प्रत्येक विषय को आसमान करके ही व्यवस्थित ढंग से युक्तियों द्वारा अपने कथन को प्रमाणित किया है। जितना पर पक्ष समीक्षण का भाग है, वह उम-उन मतों के प्राचीनतम ग्रन्थों से लेकर ही पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थित किया है।

स्वपक्ष संस्थापना में समन्तभद्रादि आचार्यों के प्रमाणवाक्यों से पक्ष का समर्थन परिपूर्ण रूप में किया गया है। कारिकाओं की व्याख्या में वादिराज का व्याकरण ज्ञान भी प्रस्फुटित हुआ है। कई कारिकाओं के सन्होंने पांच-पांच अर्थ तक दिये हैं, दो अर्थ तो अनेक कारिकाओं के दृष्टिगोचर होते हैं। समस्त विवरण में दो दोहरे हजार पाँच उनके द्वारा रचे गये हैं। इनकी लकड़ा शक्ति अत्यंत प्रखर और मौलिक है। इन्होंने न्यायविनिश्चय के प्रत्यक्ष, अनुमान और प्रवचन तीनों परिच्छेदों पर विवरण की रचना की है। अकलंकदेव ने जिन मूल विषयों की उत्थापना की है, उनका विस्तृत भाष्य इस विवरण में हुआ है। तर्क और

¹ एकीभावस्तोत्र, वादिराजसूरि—४

² न्यायविनिश्चयविवरण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रस्तावना, पृ. ३५

दर्शन के तत्वों को स्पष्टरूप से समझाने का प्रयास किया गया है। ज्ञान-ज्ञेय तत्व, प्रमाणप्रमेय आदि का विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।

प्रमाण निर्णय—

सर्वप्रथम निर्विघ्न ग्रन्थ की समाप्ति के लिए मंगलाचरण के रूप में श्री वर्द्धमान प्रभु को नमस्कार कर ध्यान को प्रारंभ किया गया है। इस ग्रन्थ में प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय और आगमनिर्णय ये चार प्रकरण हैं।

प्रमाणनिर्णय में प्रमाण का स्वरूप निर्धारण करते हुए सम्यक्ज्ञान को ही प्रमाण बताया है। इस प्रकरण में नैयायिक, भीमांसक, बौद्धप्रभुति वार्षिकों की प्रमाणविषयक मान्यताओं की समीक्षा की गयी है और बताया है कि—

सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है। इसके द्विना अन्य किसी को प्रमाणत्व नहीं होने से प्रभिति किया के प्रति जो साधकतम् उत्तम है, उही प्रमाण है। तब सम्यग्ज्ञान होने पर ही होता है। अचेतन इन्द्रियादि या मिथ्याज्ञान में नहीं होता। नैयायिक इन्द्रिय और अनुभावादि को भी प्रभिति किया के प्रति करण मानते हैं। ये कहते हैं— चक्षु इन्द्रिय से देखा जाता है, धूरं से अग्नि का अनुभाव किया जाता है। अतः वे भी प्रभिति किया के प्रति करण हैं।

सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वाऽन्यथानुपपत्ते। इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं य प्रभितिकियां प्रति साधकतमल्येन करणत्वम्। तत्त्व तस्य सम्यग्ज्ञानत्वे सत्येव भवति नावेतनत्वे नायसम्यग्ज्ञानत्वे। ननु च प्रभिति कियायामस्त्वेवावेतनस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वं चक्षुषा प्रभीयते, धूमादिना प्रभीयते इति। तथापि प्रभिति किया करणत्वस्य प्रसिद्धेरितिथेत्।

आचार्य कहते हैं कि संशय विषय और अन्यवसाय का निवारण ही प्रभिति है, इनका निवारण होने पर ही अचेतन इन्द्रियादि या अन्य कोई प्रभितिकिया का कारण हो सकता है। अचेतन इन्द्रिय आदि करण नहीं हो सकते, क्योंकि ये अव्युत्पत्यादि के विरोधी नहीं हैं। किसी विरोधी के द्वारा ही किसी का विनाश किया जा सकता है। जैसे प्रकाश अन्यकार का विरोधी है, अतः उससे अन्यकार नष्ट होता है। अचेतन इन्द्रिय आदि का अव्युव्यति आदि से विरोध नहीं है, अतः उनके द्वारा उनका विनाश नहीं हो सकता। सम्यक्ज्ञान से ही उनका विनाश हो सकता है, क्योंकि सम्यक्ज्ञान निष्ठायात्मक होता है। निष्ठायात्मक का अव्युत्पत्यादि से विरोध प्रसिद्ध है। अतः सम्यक्ज्ञान ही प्रभिति किया का करण है अन्य नहीं।

ननु च प्रभितिनाभाव्युत्पत्यादि व्यवचित्तिरेव। सत्त्वामेव तस्यां चेतनस्य तस्य च प्रभितत्वोपपत्ते। न च तथावेतनस्य करणत्वमविरोधत्। विरोधिनोहि कुत्प्रित्कस्यचित्तव्यवचित्तिः प्रकाशादिवाक्यकारस्य। न हेतुमस्याभ्यव्युत्पत्यादिभा किंदपि विरोधो यतस्तातोऽपि तदव्यवचित्तिः परिकल्पयेत्, सम्यग्ज्ञानात् तदव्यवचित्तिलयपन्नैव तस्य व्यवसायात्मकत्वात्। व्यवसायस्य चाव्युत्पत्यादिना विरोधप्रसिद्धे।¹

¹ प्रमाण निर्णय, वादिराज शूरि पृ० १

इस प्रकरण में व्यवसायात्मक सम्यकज्ञान को प्रभाणसिद्ध किया गया है और इन्द्रिय, आलोक, सन्निकर्ष आदि की प्रभाणता की समीक्षा की गयी है, ज्ञान की उत्पत्ति में आलोक और अर्थ की कारणता का भी निराकरण किया गया है।

भावनाद्वैतवादी बौद्ध के केवल रचनात्मक लक्ष्य नैयायिक मीमांसक आदि के केवल अर्थ विवरण वा निराकरण करते हुए सम्यकज्ञान का विद्युत स्वरूप और पर दोनों बताया है।

प्रमाण की प्रभाणता अन्यरत दशा में स्वतः और अनभ्यस्त दशा में परतः मानी गयी है।

प्रत्यक्ष निर्णय

प्रत्यक्ष निर्णय प्रकरण में स्पष्ट प्रतिभासित होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है। रसस्तावभास इन्द्रिय ज्ञान में सम्भव नहीं है, अतः इन्द्रिय ज्ञान परोक्ष है, स्पष्ट प्रतिभास प्रत्यक्ष ज्ञान में होता है। जिस ज्ञान में इन्द्रिय आलोक आदि पर पदार्थों की सहायता की अवश्यकता होती है वह परोक्ष है और जिसमें इन्द्रिय आदि की सहायता की अपेक्षा नहीं होती वह प्रत्यक्ष होता है। इसी सन्दर्भ में सन्निकर्ष, इन्द्रियों से अर्थ के प्रति व्याधार आदि के प्रत्यक्षत्व का निरसन किया गया है। चक्षु के प्राप्यकारित्व का पूर्वपक्ष प्रत्युत करते हुए उसका निराकरण किया गया है। कहा गया है कि यदि चक्षु प्राप्यकारी है तो वह औंख में लगे हुए अंजन आदि को क्यों नहीं देखती और औंख से असन्निकृष्ट पदार्थ को क्यों देख लेती है? अतः चक्षु प्राप्यकारी नहीं है।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद किए गए हैं — मुख्यप्रत्यक्ष और सामृद्ध्यवहारिक प्रत्यक्ष। सामृद्ध्यवहारिक प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं — इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। मुख्य प्रत्यक्ष के भी दो भेद हैं — विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष। यद्यपि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय ज्ञान को इन्द्रिय तथा मन की सहायता से होने के कारण परोक्ष कहा गया है किन्तु व्यवहार में प्रत्यक्ष माना जाने के कारण उसे सामृद्ध्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा गया है। इन्द्रिय तथा अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के अवग्रह के द्वारा ग्रहण किए हुए विषय में यह देवदत्त होना चाहिए, इस प्रकार की प्रतीति इह है, यह देवदत्त ही है इस प्रकार का निश्चय अवाय है और उसी को कालान्तर में स्मरण रखने योग्य ग्रहण करना धारणा है। इसके बहु आदि अन्य अकान्तर भेदों का उल्लेख ग्रन्थकार ने नहीं किया है, किन्तु भेदभिन्न अवग्रहादीनामस्ति संख्याविकल्पः सोऽन्यत्र प्रतिपत्त्यः कहकर उनका संकेत कर दिया है।

अतीन्द्रिय ज्ञान में अवधि और मनःपर्यय ज्ञान को विकल प्रत्यक्ष तथा केवलज्ञान (सर्वज्ञ के ज्ञान) को सकल प्रत्यक्ष कहा गया है। अवधि ज्ञान के देशावधि, परमावधि और सर्वावधि तीन भेद किये गये हैं। मनःपर्यय ज्ञान के भी ऋजुमति और विपुलमति दो भेद बताये हैं और ऋजुमति से विपुलमति को अधिक विशुद्ध बताया गया है। मतिज्ञान के विषय का अनन्तवां भाग देशावधि का, देशावधि के विषय का अनन्तवां भाग परमावधि तथा उसका

अनन्ततां भाग सर्वावधि का विषय है। सर्वावधि का अनन्ततां भाग यिपुलमति मनःपर्यय ज्ञान का विषय है। मनःपर्यय ज्ञान संयमी मनुष्यों के ही होता है।¹

केवलज्ञान सम्पूर्ण धारियाकर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होता है। यह तीन लोक और तीन काल के समस्त पदार्थों और उनकी पर्यायों को एक साथ जानता है। अन्य ज्ञान अपने-अपने आवश्यक तथा वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होने पर होते हैं किन्तु केवलज्ञान ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्म के पूर्णतः क्षय होने पर ही प्रादुर्भूत होता है। इसी प्रसंग में सर्वज्ञत्व की सिद्धि करने के साथ साथ बुद्ध, हरिहर ब्रह्मा आदि देवताओं के सर्वज्ञत्व को निरसन करते हुए भगवन् अहंत को ही सर्वज्ञ सिद्ध किया है। उनका ज्ञान ही पूर्णकूप से विशद(स्पष्ट) है।²

घरोक्ष निर्णय

घरोक्ष निर्णय प्रकारण में घरोक्ष निर्णय के दो भेद किये जाते हैं— अनुमान और आगम। अनुमान के भी मुख्य और गौण दो भेद किये जाते हैं। स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क को गौण अनुमान माना गया है तभा साधन से साध्य के ज्ञान को मुख्य अनुमान कहा गया है। तर्क प्रमाण के ज्ञान को मुख्य अनुमान कहा गया है। तर्क प्रमाण की प्रमाणता सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं कि व्याप्ति ज्ञान का तर्क कहते हैं तथा साध्य तर्क साधन के अविनाभाव को व्याप्ति। अविनाभाव एक नियम है। साध्य के होने पर ही साधन का होना तथा साध्य के न होने पर साधन का न होना अविनाभाव है। व्याप्ति का ज्ञान तर्क प्रमाण के अतिरिक्त अन्य किसी प्रमाण से संबंध नहीं है, अतः तर्क को पृथक् प्रमाण मानना आवश्यक है। तर्क का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया गया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष से अवग्रहीत पदार्थ का कालान्तर में स्मरण स्मृति प्रमाण तथा स एवायं अथवा तत्सदृशः एवायं इस प्रकार का स्मरण और प्रत्यक्ष का जोड़ रूप ज्ञानः प्रत्यभिज्ञान है, जिनकी प्रमाणता भी युक्ति पूर्वक सिद्ध की गयी है।

चार्याक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानते हैं, आचार्य ने उनके लिये अनुमान प्रमाण की अनिवार्यता सिद्ध की है। वे कहते हैं कि अनुमान के अभाव में न तो किसी की बुद्धि का ज्ञान हो सकता है, न इष्ट को सिद्ध और पर के इष्ट में दोषोन्नावन्। भूत चतुष्टय की सिद्धि भी अनुमान प्रमाण के बिना नहीं हो सकती है। अतः चार्याक को भी अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ेगा।

अभाव प्रमाण के पृथक् प्रमाणत्व का निराकरण करते हुए उसका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष प्रमाण में किया गया है। हेतु के त्रैरूप्य और पञ्चरूप्य का निरसन करते हुए अविनाभाव का ही हेतु सिद्ध किया है।

¹ प्रमाण निर्णय वादिराजसूरी पृष्ठ २८

2. यही प्रष्ठ 32

इह छेत्र संक्षेप में दो प्रकार का है— विधि साधन और प्रतिषेध साधन। विधि साधन भी दो प्रकार का है— धर्मी तथा धर्मी विशेष के भेद से। धर्मी विशेष साधन दो प्रकार का है— धर्मी से अभिन्न और धर्मी से भिन्न। धर्मी से अभिन्न साधन भी संप्रक्ष से लहिस और संप्रक्ष से सहित के भेद से दो प्रकार का है। धर्मी से भिन्न साधन अनेक प्रकार का है। प्रतिषेध साधन भी विधि रूप और प्रतिषेध रूप साधन के अनेक भेद हैं।

हेत्याभास तीन प्रकार के हैं— असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक।

साध्य का लक्षण बताते हुए कहा है कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवशिष्ट, बुष्ट और प्रतिवादी की अपेक्षा असिद्ध हो वही साध्य है, इसके विरुद्ध साध्याभास है।

अनुमान में दृष्टान्त का होना अनिवार्य नहीं है फिर भी दृष्टान्त का प्रयोग प्रायः किया जाता है। अतः दृष्टान्त तथा दृष्टान्ताभास का जानना भी आवश्यक है। जिसमें साध्य और साधन का संबंध ज्ञान होता है, वह दृष्टान्त है। वैधमर्य से यथा शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत् यहाँ घट साधमर्य से दृष्टान्त है। वैधमर्य से ~ यथा आकाश। यहाँ घड़े और आकाश में साध्य साधन का सम्बंध अन्वय और व्यतिरेक से जाना जाता है।

दृष्टान्ताभास नौ साधमर्य के तथा नौ वैधमर्य के हैं—

साधमर्य से — साध्यविकल, साधनविकल, उभयविकल, संदिग्धसाध्य, संदिग्ध साधन सम्बिन्दिग्धोभय, अनन्वय, अप्रदर्शित अन्वय तथा विपरीतान्वय ये भी साधमर्य दृष्टान्ताभास हैं तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयान्यावृत्त, संदिग्ध साध्यव्यतिरेक, संदिग्धसाधन व्यतिरेक, संदिग्धोभय व्यतिरेक, अव्यतिरेक, अप्रदर्शित व्यतिरेक ये नौ वैधमर्य से दृष्टान्ताभास हैं। इस प्रकार विवरण दृष्टान्ताभास है।

आगम निर्णय प्रकरण

आगम निर्णय प्रकरण में आचार्य ने आगम को पृथक् प्रमाण सिद्ध करते हुए कहा है कि इसका अनुमान में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। क्योंकि दोनों के विषय भिन्न है। आप्त का उपदेश ही आगम है उसकी प्रमाणता उसमे उसके विषय का ज्ञान होने से औपचारिक रूप में ही है मुख्यतः तो विषय की प्रतिपत्ति को ही प्रमाणता है। शब्द केवल यत्का की इच्छा में ही प्रमाण है, बाह्य अर्थ में नहीं, यह कहना युक्ति संगत नहीं है। आगम की प्रमाणता आप्त का उपदेश होने के कारण है, दृढ़ आप्त सर्वज्ञ वीतरागी और हितोपदेशी है अतः उसके बचन अविसंवादी होने से प्रमाण है।

शब्द को पौद्वलिक बताया है। कहा है — पुदगलविवर्तः शब्दः इन्द्रियवेदात्त्वात् कलशादि संस्थानवत्। शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है और श्रोत्रेन्द्रिय ग्राषकारी है वह प्रत्यासन्न विषय को ही ग्रहण करती है।

आगम के विषय पदार्थों का अनेकांत, घरिणाम, मोक्षमार्ग तथा उसके विषय—जीव अजीव आदि सात तत्त्व हैं।

अनेकान्त और परिणाम

पदार्थ का एक साथ अनेकरूपत्व अनेकांत है और परिणाम कम से गुणपर्यवेद् द्वार्ध इत्यादि आगम तथा प्रत्यक्ष से भी उसकी प्रतिपत्ति होती है। अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन करने के लिये स्यादस्त्वयेऽपेक्षान्तात्मा, स्यादस्त्वयेऽपेक्षान्तात्मा, स्यादस्त्वयेऽपेक्षान्तात्मा, स्यादवक्तव्यैव, स्यादस्त्वयत्क्वैव, स्यादस्त्वयत्क्वैव इन सात भंगों का आश्रय लिया जाता है। नय विद्या से ही अनेकान्तात्मक वस्तु का कथन संभव है, अन्यथा नहीं।

मोक्षमार्ग

मोक्ष का मार्ग सम्यकदर्शन, सम्यकज्ञान तथा सम्यकचारित्र तीनों है। न केवल सम्यकदर्शन से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, न केवल सम्यकज्ञान से और न केवल सम्यकचारित्र से अपितु तीनों की पूर्णता होने पर ही मोक्ष संभव है।

मोक्ष में जीव की स्थिति के संबंध में बौद्धों के –

दीपो यथा निर्दृतिमभ्युपेति नैवावनिं गच्छति नान्तरीक्षं स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिं

के द्वारा जीव की सर्वशून्यता वेदातियों के ब्रह्मदेवे ब्रह्मैव भवति के द्वारा ब्रह्म से ऐक्य प्राप्त करने वैशेषिकों के द्वारा बुद्धि आदि सभी विशेष गुणों का उच्छेद होने तथा संख्यों के द्वारा चिन्मयत्व आदि का भिसाकरण कर उसके स्वरूप का निम्न प्रकार निरूपण किया है।

तस्मान्निर्मूलनिर्मुक्तं कर्मवन्धोऽतिनिर्मलः ।

ब्यावृत्तानुगताकारोऽनन्तमानन्ददृग्वलः ।

निशोषदव्यपर्याय साक्षात्करणं भूषणः ।

जीवो मुक्तिपदं प्राप्तः प्रपत्तव्यो भनीषिभिः ।

अर्थात् मोक्ष में जीव कर्मबन्ध से सर्वथा मुक्त होकर अत्यन्त निर्मलकर्मों से रहित, ज्ञानादि गुणों से युक्त अनन्त आनन्द, अनन्त दर्शन, और अनन्त वीर्यवाला, अखिल द्रष्ट की अखिल पर्यायों को जानने वाला हो जाता है।

विषय

मोक्षमार्ग के विषय जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनका निर्णय होने पर ही किसी की मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति हो सकती है। जीव का निर्णय नहीं होने पर उसकी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, अजीव को जाने बिना भी जीव—अजीव के सम्बंध को न जानने से उसके वियोग की इच्छा नहीं हो सकती। इसी प्रकार आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष को जाने बिना भी आस्रव तथा बंध के कारणों को दूर करने तथा संवर और निर्जरा के द्वारा अनागत कर्मों को रोकने और आगत कर्मों के क्षय करने में प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

हेयोपादेय तत्त्व को जाने विना मोक्षमार्ग में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और सुख्त विषयों को जाने विना हेयोपादेय का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः मोक्षार्थी के लिए अनेकांति, परिणाम, मोक्षमार्ग और उनके विषय जीव, अजीव आदि सात तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है।

प्रभाण निर्णय नामक इस लघुकाथ ग्रंथ में आचार्य वादिराज सूरि ने जैन दर्शन का सार प्रस्तुत करते हुए गागर में सामर की उक्ति को चरितर्थ किया है। अतः मुमुक्षुओं के लिए यह ग्रंथ एक प्रकार का आलोक सम्भव ही है। यथा सम्भव विषय को स्पष्ट करते हुए ही मैंने अनुधाद करने का प्रयास किया है। फिर भी मेरी अल्पज्ञता के कारण कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो सुधी पाठन मुझे क्षमा करने तथा आवश्यक सुझाव देकर उपकृत करने का कष्ट करें।

डॉ० सूरजमुखी जैन
पूर्व प्राचार्य
अलका ३५, इमामबाड़ा
मुजफ्फरनगर

दिनांक 13-7-2000

श्रीसरस्वत्यै नमो नमः ।
श्रीमद्भादिराजसूरिविरचितः
 श्री सरस्वती देवी को नमस्कार हो
 श्री बादिराज सूरि विरचित

प्रमाणनिर्णयः

प्रमाणनिर्णय

वाचीकृतिः प्रमाणनिर्णयः श्रीमद्भादिराजसूरिविरचितः

मंगलाचरणम्!

श्रीवर्द्धमानमानम्य, जिनदेवं जगत्प्रभुम् ।
सद्गुरोपेण प्रमाणस्य निर्णयो वर्ण्यते मया ॥ ॥ ॥

संसार के प्रभु श्री वर्द्धमान जिनदेव को नमस्कार करके मेरे द्वारा संक्षेप में प्रमाण के निर्णय का वर्णन किया जाता है ॥ ॥ ॥

प्रमाणलक्षणनिर्णयः ।

(प्रथम लक्षण निर्णय)

सम्यग्ज्ञानं प्रभाणं प्रमाणत्वाऽन्यथाऽनुपपत्ते । इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिकियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वं । तत्र तस्य सम्यग्ज्ञानत्वे सत्येव भवति नाऽधेतनत्वे नाऽप्यसम्यग्ज्ञानत्वे ॥ ॥ ॥

सम्यग्ज्ञानं प्रमाण है, सम्यग्ज्ञान के बिना प्रमाणत्व की उत्थाति नहीं होने से प्रमाण की प्रमाणता यही है कि वह प्रमिति किया के प्रसि साधकतम होने के कारण उसका करण है। वह प्रमाणता उस करण के सम्यग्ज्ञान होने पर होती है, अचेतन यस्तु तथा मिथ्याज्ञान में प्रमाणता नहीं होती ॥ ॥ ॥

न^१नु च लत्कियायामस्थेवाचेतनस्यापीन्द्रियलिङ्गादेः करणत्वं चक्षुषा प्रभीयते धूमादेना प्रभीयत इति । त^२त्राऽपि प्रमितिकियाकरणत्वस्य प्रसिद्धेरिति चेत् । न^३नु च प्रमितिर्नामाव्युत्पत्त्यादिव्यवच्छिन्तिरेव । सत्यामेव तस्यां चेतनस्येतरस्य या प्रमितत्वोपपत्ते । न च लत्राऽचेतनस्य करणत्वमविरोधात् ।

¹ “ननु च” लब्दोऽत्र विरुद्धोक्तौ । नैवायिकमतमिदम् ।

² इद्विद्विलिङ्गादावपि ।

³ “प्रश्नाब्धास्यामुड्डाऽनुनयगमत्रणे ननु” इत्यमरः ।

⁴ अनाध्यहसायः ।

विरोधिनो हि कुतश्चित्कर्त्यचिद् व्यवच्छिणीः प्रकाशादिवान्धकारस्य । नह्येतेतन स्याप्यव्युत्पत्त्यादिनाकश्चिदपि विरोद्धो यतस्ततोऽपि तदव्यवच्छिणीः परिकल्प्येत् सम्यग्ज्ञानात् तदव्यवच्छिणीरूपपञ्चैव तस्य व्यवसायात्मकत्वात् । व्यवसायस्य चाऽव्युत्पत्त्यादिना विरोधप्रसिद्धे । न हि व्यवसितमेव किञ्चिदव्युत्पन्नं^१भारेकितं विपर्यस्तं वा भवति । तदभाव एव तद्वावस्थोपपत्तेः । अतः सम्यग्ज्ञानस्यैव तत्र करणत्वम् । अचेतनस्य त्विन्द्रियलिङ्गादेस्तत्र करणत्वं गवाक्षादेरिवोपधारादेव । उपचारश्च तदव्यवच्छिण्टौ सम्यग्ज्ञानस्येन्द्रियादिसहायतया प्रवृत्तेः । तत्राऽचेतनस्य तत्र करणत्वं मुख्यवृत्त्या सम्भवति । नाऽप्यसम्यग्ज्ञानस्य ॥२॥

नैयायिक कहते हैं कि प्रभिति किया में अबेलन इन्द्रिय तथा अनुमान आदि भी करण हैं, चक्षु से जाना जाता है, धूरं से जाना जाता है इस प्रकार इन्द्रिय तथा अनुमान आदि में भी प्रभिति किया के करण होने की प्रसिद्धि होने से । जैनाचार्य कहते हैं अनध्यवसाय आदि (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) का निवारण ही प्रभिति है, संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का निवारण होने पर ही अचेतन कोई भी प्रभिति किया का करण हो सकता है । अचेतन करण नहीं हो सकता क्योंकि वह संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का विरोधी नहीं है । किसी विरोधी के द्वारा ही किसी का विनाश या अभाव हो सकता है, जैसे प्रकाश से अंधकार का, क्योंकि प्रकाश अंधकार का विरोधी है । अचेतन का संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से कोई विरोध नहीं है, जिससे अचेतन से भी उनके विनाश की कल्पना की जा सके । सम्यग्ज्ञान से संशयादि का विनाश होता ही है, क्योंकि सम्यग्ज्ञान निश्चयात्मक होता है । व्यवसाय (निश्चय) का अनध्यवसाय आदि से विरोध प्रसिद्ध ही है । कोई भी निश्चय संशय, विपर्यय या अनध्यवसाय रूप नहीं होता है, संशयादि के अभाव में ही निश्चय की उत्पत्ति होने के कारण । अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रभितिकिया का करण है । अचेतन इन्द्रिय अनुमान आदि प्रभिति किया के प्रति खिड़की आदि के समान उपचार से ही करण हैं । सम्यग्ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता से संशय आदि को दूर करता है, यही उपचार है । अतः प्रभिति किया का करण मुख्यरूप से न तो इन्द्रिय, लिंग आदि हैं न मिथ्या ज्ञान ॥२॥

न हि तदव्यापरपरामृष्टस्याऽव्युत्पत्त्यादिविकलतया ^३भावस्य प्रभितत्वमुपपन्नं तदसम्यक्त्वस्यैव तथासत्यभावापत्तेः । अव्युत्पत्त्यादिप्रत्यनीकस्य स्वभावस्यैव सम्यगर्थत्वात् । तस्य वा सम्यग्ज्ञानेऽपि भावे वाच^४निकम्भेव तस्यासम्यग्ज्ञानत्वं भवेत् वास्तवम् । ततः सम्यग्ज्ञानादेव व्यवसायात्मनस्तदव्य-वच्छिणीः ॥३॥

प्रभिति किया से परामृष्ट पदार्थ ही अव्युत्पत्ति आदि से रहित होने के कारण ग्रन्थ है ऐसा भी नहीं है, ऐसा होने पर असम्यक्त्व (मिथ्यात्व) का ही अभाव हो जाएगा ।

^१ अनध्यवसितम् ।

^२ शक्तितम् ।

^३ पदर्थस्य ।

^४ वाचमन्त्रमेव ।

^५ सत्यं ।

क्षणिक सम्यकत्वे तो अव्युत्पत्ति आदि से विपरीत स्वभाव वाला ही होता है। मिश्चात्य को भी अनध्यवसाय आदि से विपरीत स्वभाव वाला होने पर यह कथन भाव के लिए ही मिश्चाज्ञान होगा, बास्तव में नहीं। अतः निश्चयात्मक सम्यग्ज्ञान से हो अनध्यवसाय आदि का निश्चकरण होता है। १३ ॥

यद्येषा न व्यवसायरूपा^१ न प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानात्मनः फले^२ भवेत् व्यवसायरूपत्वे सत्येव तदुपपत्तेः। अत ऐवोत्तं "प्रमाणस्य साक्षात्कलसिद्धिः^३ स्वार्थविनिश्चय"^४ इति। १४ ॥

यदि प्रमिति व्यवसाय रूप न हो तो सम्यग्ज्ञान रूपी प्रमाण का फल (हन विनाश तथा हानोपादन, उपेक्षा बुद्धि रूपी) भी न हो। प्रमिति किया के व्यवसाय रूप होने पर ही उक्त फल की उत्पत्ति होने के कारण इसलिए कहा है कि प्रमाण की साक्षात् फलसिद्धि अपना और अर्थ का निश्चय है। १४ ॥

व्यवसायरूपा चेत्सहिं व्यवसायात्तद्व्यवच्छित्तिरिति तद्व्यवच्छित्तोरेव तद्व्यवच्छित्तिरित्युक्तं भवति, तत्त्वानुपपत्रमेव। भेदाऽभावे कियाकारकभावस्यानुप-पत्तेरिति चेत्र भेदस्याऽपि भावात्। १५ ॥

शंकाकार कहते हैं कि यदि प्रमिति को व्यवसायरूप कहते हो तो व्यवसाय से अव्युत्पत्ति आदि का विनाश और अव्युत्पत्ति आदि का विनाश होने पर अव्यवसाय का विनाश मानना पड़ेगा, यिन्तु ऐसा नहीं होता। ऐव के अभाव में किया कारक भाव की उत्पत्ति नहीं होने से। आचार्य कहते हैं, यह कहभा ढीक भी है ऐव के भी होने से। १५ ॥

द्विरूपं हि व्यवसायस्वैभावसंवेदनं, प्रवृत्तिरूपं निवृत्तिरूपं चेति। नहीदमव्युत्पत्त्यादि निवृत्तिरूपमेव, नीरूपत्वापत्तेः। नाऽपि प्रवृत्तिरूपमेव, स्वरूपादिनेवाऽव्युत्पत्त्यादिरूपेणाऽपि तद्रूपत्वापत्तेः। न चैवभेदकान्ततो निवृत्तिरूपतया प्रवृत्तिरूपतया च तस्याऽप्रवेदनात्^५। अत ऐवोभयस्कभावे तस्मिन् प्रवृत्तिरूपतया साधकतमस्याव्युत्पत्त्यादिनिवृत्तिरूपतया किया भावस्य भावान् कियाकारकभावस्याऽनुपपत्तिः। १६ ॥

शंकाकार पुनः कहते हैं—आत्मसंवेदनरूप व्यवसाय दो प्रकार का हो सकता है प्रवृत्ति रूप और निवृत्ति रूप। यह अनध्यवसाय आदि की निवृत्ति रूप नहीं हो सकता, निवृत्ति

^१ "तर्हीतिः" शिष्टांशः।

^२ अक्षाननिवृत्तिरूपोपादानोपेणाधुक्तयः फलं।

^३ जीनेत्रिति शेषः।

^४ शास्त्रिः।

^५ आत्म।

^६ तथारित्यति चेत्।

^७ अनिश्चयात्।

रूप न होने पर उसके नीलगत्य की प्राप्ति होने से। प्रवृत्तिरूप भी भीं है, स्थरूपादि के समान अव्युत्पत्ति आदि को भी प्रवृत्तिलपत्व का प्राप्त होने से। आचार्य कहते हैं—ऐसा नहीं है, एकांत रूप से निवृत्ति रूप से तथा प्रदृशि रूप से उसका निश्चय नहीं होने से। अतः उसके उभय स्थानव होने पर प्रवृत्तिरूप से साधकतम तथा अव्युत्पत्त्यादि की निवृत्ति रूप से कियाभाव के होने से किया कारक भाव की अनुत्पत्ति नहीं है॥६॥

कथमेवमपि प्रभितिकियायां तत्साहमाविनः संवेदनस्य
साधकतमत्वमितिचेत्र । प्रागपि^१ भावात् तत एव संवेदनात्प्रागपि विषयान्तरे
प्रभितिकियानिष्ठत्वे । अन्यदेव^२ तत्संवेदनं विषयमेदे तद्वेदस्याऽवश्यभावादिति चेत् ।
न युगपदप्येवं प्रसङ्गात् तथा^३ च कथं सेनावनादिप्रतिपत्तिः ॥७॥

विषक्षी पुनः कहते हैं—ऐसा होने पर भी प्रभितिकिया में प्रभिति के साथ होने वाले संवेदन को साधकतम कैसे कहा जा सकता है। आचार्य कहते हैं यह कहना ठीक नहीं है, प्रभिति से पूर्व भी संवेदन के होने से। उसी संवेदन से पहले भी दूसरे विषय में प्रभिति किया के सम्बन्ध होने से। विषक्षी कहते हैं यह संवेदन अन्य ही होगा, विषय का भेद होने पर संवेदन में भी भेद अवश्य होने से। आचार्य कहते हैं ऐसा नहीं है, एक साथ भी ऐसा प्रसंग होने से। फिर विषय का भेद होने पर संवेदन में भेद होने पर सेना, वन आदि का ज्ञान कैसे होगा? ॥७॥

न हि करितुर्गादेर्धवस्तुदिरादेश्चैकसंवेदनविषयत्वाभावे तत्प्रतिपत्तिः
संभवति । युगपदिष्यमेदेऽपि एकमेव संवेदनं, तथा तस्यानुभवादिति चेत्र^४ ।
कमेणापि तथा तदनुभवस्याविशेषात्^५ परापरसमयव्याप्तेरनुभवगम्यत्वे कुलो न
“तस्याऽजन्ममरणावधिरप्यनुभव इति चेत्र यावच्छक्तिकमेवानुभवस्य तत्र
व्यापारात् अन्यथा वर्तमानेऽपि वस्तुनि सर्वत्राऽपि तस्य व्यापारोपनिपातात् ॥८॥

हाथी ढोडा आदि तथा धद खदिर आदि के एक संवेदन का विषय नहीं होने पर एक संवेदन से उनका ज्ञान नहीं होगा। विषक्षी कहते हैं युगपत् विषय के भिन्न होने पर भी संवेदन एक ही है ऐसा उसका अनुभव होने से। आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, कम से भी एक संवेदन का अनुभव युगपत् के समान ही होने से। विषक्षी कहते हैं—पहले और बाद में रहने वाले संवेदन का विषय भेद होने पर भी एकलप अनुभव होने पर उससे जन्म से मृत्यु धर्यते का अनुभव क्यों नहीं होता, आचार्य कहते हैं यह कहना ठीक नहीं है। शक्ति के अनुसार ही अनुभव का विषय में व्यापार होने से अन्यथा वर्तमान वस्तु में भी सर्वत्र उसके व्यापार का प्रसंग आयेगा ॥८॥

^१ प्रभितेः प्रागपि संवेदनस्य भावात् ।

^२ गत्पूर्व विषयान्तरे प्रभितिकियानुपजनयति ।

^३ युगपदिति विषयमेवत्संकेदनभेदे शति ।

^४ जैनः ।

^५ अन्यः ।

^६ विषयमेदेऽप्येकत्वप्रकारण ।

कथमेवमप्यन्वितज्ञानाविष्वभावे तत्त्वसमयभाविन्योऽर्थप्रभितयो
 व्य॑तिभिद्यन्ते इति चेत् युगपद्माविन्यः कथं? तदानीभेकैव करितुरगादिविषया
 प्रभितिरपीति चेत्र तस्यात्तुरगोन्मुखस्वभावत्वे तद्विषयतया नरवारणादेरपि
 तुरगरूपत्वापत्तेः। अतत्स्वभावत्वे तया तुरगस्याऽव्यवस्थापनप्रसङ्गात्।
 नरवारणादेरपि तत्तदुन्मुखयस्वभावयैव तया विषयीकरणं च तुरगोन्मुखस्वभावयैव
 यदयं प्रसङ्गः इति चेत् सिद्धं तर्हि युगपत्प्रभितेनानात्वं औन्मुख्यनानाल्वे
 तद्रूपतया तत्राऽपि नानात्वस्योपपत्तेः। अतो युगपदिव कमेणाऽपि
 अन्वितज्ञानाविष्वभावेऽपि ^१व्यतिभेदोपपत्तेः। तत्र ^२तत्र प्रभितौ तस्यैवान्वयिनः
 संवेदनस्य साधकतमत्वं नाचेतनस्येन्द्रियलिङ्गादेः नाप्यसम्यज्ञानस्याध्यवसा—
 यादेरिति स्थितम् ॥१॥

शंकाकार कहते हैं ऐसा होने पर भी संबद्ध ज्ञान के सर्वव्यापी च होने पर भिन्न
 भिन्न समय में होने वाली अर्थप्रभितियां परस्पर भिन्न कैसे होती हैं। आचार्य कहते हैं कि युगपत् होने वाली अर्थप्रभितियां कैसे भिन्न होती हैं? युगपत् करि तुरग आदि को विषय
 करने वाली प्रभिति भी एक ही है, यह भी नहीं कह सकते। उस प्रभिति का तुरगोन्मुख
 स्वभाव होने वर्तु संकेत विषये करिते वाली प्रभिति के कारण भनुष्य हाथी आदि को भी तुरग
 रूपत्व का प्रलंग होने से तुरगोन्मुख रथभाव नहीं होने पर तुरग का ही व्यवस्थापन नहीं
 होने से। यदि यह कही कि नर वरण आदि का भी उस रथभाव वाली प्रभिति के द्वारा ही
 उभका उस प्रकार विषयी करण होता है तुरगोन्मुख रथभाव वाली प्रभिति के द्वारा नहीं, जिससे उक्त आपत्ति आये तब तो एक साथ प्रभिति की भिन्नता सिद्ध ही हो जाती
 है। उन्मुखता के भिन्न होने पर उसी प्रकार प्रभितियों की भी भिन्नता होने से। अतः युगपत् के
 समान कम से भी संबद्ध ज्ञान के सर्वगत होने पर भी प्रभितियों में भेद होने से पूर्वीतर
 समय में होने वाली प्रभिति में उसी से संबद्ध संवेदन को साधकतमत्व होता है अचेतन
 इन्द्रिय लिंगादि को नहीं, न मिथ्या ज्ञान और अनध्यवसाय आदि को ॥१॥

तस्य संवेदनस्य स्वरूपमर्थश्चेति द्विविधो विषयः। तत्रोभयत्रापि तत एव
 प्रभिते: ^३कः पुनरर्थो नाम यत्र ततः प्रभितिरिति चेत्, संवेद ^४नवहिर्भाविनीलादिरेव,
 यद्यसौ प्रकाशते न कथमस्ति? व्योमकुसुमादिवत् प्रकाशते चेत्, न संवेदनवहिर्भाव
 —स्तस्य प्रकाशरूपमेव, नीलादिस्तु कदाचिदप्रकाशोऽपि, ततस्तस्यार्थत्वं प्रकाशबहिर्भावात्।
 इति चेत्। अप्रकाशवस्थस्य यदि न तस्य प्रतिपत्तिः कथमस्तित्वमति—प्रसङ्गात्।
 प्रतिपत्तिश्चेन्न प्रकाशवैकल्यं, प्रकाशवत्त्वादेव प्रतिपत्तोपपत्तेः। ततो नीलादे:
 प्रकाशबहिर्भावेन नार्थत्वमिति—कथं तस्य संवेदनादन्यतः प्रतिपत्तिः? ॥१०॥

^१ परस्पर भिद्यते।

^२ प्रभितानां।

^३ पूर्वीतरसमये।

^४ ज्ञानाद्वैतादी सौम्यतो वक्ति प्रभितेभिन्नः कः पुनरर्थो नामेति प्रश्नस्याशयः।

^५ जैनः।

^६ भवतीति शोषः।

उस संवेदन (ज्ञान) का अपना रूप और अर्थ दो प्रकार के विषय हैं। दोनों में ही उस ज्ञान से ही प्रभिति होने से ज्ञानाद्वितयादी जीगत कहते हैं—प्रभिति से शिश्रु अर्थ क्या है? जिसकी संवेदन से प्रभिति होती है। आचार्य कहते हैं—आन से पृथक् रहने वाले नीलादि ही अर्थ हैं। जीगत कहते हैं—यदि वह प्रकाशित नहीं करता तो उसका अस्तित्व कैसे है यदि आकाश कुसुम के समान प्रकाशित करता है तो वह संवेदन से पृथक् नहीं है, उस प्रकाश को ही संवेदनत्व रूप से प्रसिद्ध संवेदन में भी प्रतिपत्ति होने से। यदि यह कहो कि संवेदन तो प्रकाश रूप ही है नीलादि कभी अप्रकाश रूप भी होते हैं अतः प्रकाश से बहिर्भाव होने के कारण अर्थत्व है तो अप्रकाशाधर्था में यदि उसकी प्रतिपत्ति नहीं होती तो उसका अस्तित्व कैसे है? अतिप्रसंग होने से। यदि प्रतिपत्ति होती है तो प्रकाश से रहितपना नहीं होगा, प्रकाशवान् होने से ही प्रतिपत्ति होने के कारण। अतः प्रकाश से रहित होने के कारण नीलादि अर्थ नहीं हैं। फिर संवेदन से पृथक् उसकी प्रतिपत्ति कैसे होती हैं? ॥10॥

स्वत एव तदुपपत्तेरिति चेत् । सत्यमस्ति प्रकाशो नीलादेः स यदि स्वत एव भवति तस्य बोधरूपत्वं न चैव, परत एव तद्वावात् । ततोऽपि भवतस्तस्य बोधत्वमेव रूपमिति चेत्र, बोध्यत्वस्यैव । तद्रूपत्वात् ॥11॥

यदि स्वतः ही उसको प्रतिपत्ति होने से कहते हो तो ठीक है नीलादि का प्रकाश यदि स्वतः ही होता है लब तो वह ज्ञानरूप ही हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि स्वतः प्रकाश नहीं होता परतः ही उसका प्रकाश होने से। जीगत कहते हैं परतः प्रकाश होने पर भी वह बोधरूप ही है। आचार्य कहते हैं, यह कहना ठीक नहीं है परतः प्रकाशरूप ज्ञेय ही हो सकता है। ॥11॥

किं पुमरिदं बोध्यत्वमर्थस्य, किं पुनर्ज्ञानस्यापि बोधकत्वं? परनिरपेक्षम्—
परोक्षत्वमिति चेत् । अर्थस्यापि परापेक्षं तदेव बोध्यत्वं किं न स्यात्? परस्यैवार्थप्रतीतिवेतायाभप्रतिवेदनादिति चेत्र नीलं वेद्धि पीतं वेद्धीति नीला—
देवन्यस्यैव तद्वेदनस्यैवानुभवनात् ॥12॥

अर्थ का बोधत्व क्या है? ज्ञान का बोधकत्व क्या है? पर की अपेक्षा न होने के कारण ज्ञान प्रत्यक्ष है, यदि ऐसा कहते हो तो पर की अपेक्षा होने के कारण अर्थ ही बोध नहीं हो जायगा। अर्थ प्रतीति के समय अर्थ से भिन्न पर का ही वेदन न होने से वह बोध नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है, नील को जानता हूँ, पीत को जानता हूँ, इस प्रकार नीलादि से भिन्न उसके ज्ञान का ही अनुभव होने से। ॥12॥

अनन्यत्वे हि नीलमित्येव वेद्धीत्येव वा स्यात्रोभयमस्ति चोभयं
ततोऽनुभवप्रसिद्धत्वानीलादेस्तत्संवेदनान्यत्वस्य कथमप्रतीतिविकल्प एवायं
कश्चिच्चन्नीलं वेद्धीति भानुभवो न च ततः क्वचिदन्यत्वनिश्चयो

¹ परतो भद्रत्प्रकाशरूपत्वात्।

² अर्थाद्विकर्त्त्वैव।

³ औनो वर्तम।

यासनामात्रनिबन्धनत्वेन तस्य विकल्प^१चात्, 'अन्यथा केशादेरपि तद्वेदनस्य
ततस्तत्प्रसङ्गात् केशादिकं वेद्यीति तैमिरिकस्य तत्रापि विकल्पप्रादुभावात्
भवतु इति चेन्न। केशादेर्भहिरभा^२वात्। बहिरस्त एव ततस्तद्वेदनस्यान्यत्वमिति
चेन्न। तदप्रतिभासे तत इति तद्वेदनस्येत्यप्यनुपपत्तेः। न^३ चासतः प्रतिभास इति
चेन्न। विभ्रमसामर्थ्यात् असतोऽपि तदुपपत्तेः अन्यथा विकल्पे नीलतद्वेद-
नान्यत्वस्याध्यप्रतिभासोत्पत्तेः, असत्याविशेषतः। ||13||

१००५ १००६ १००७ १००८ १००९ १०१० १०११ १०१२ १०१३ १०१४ १०१५

अभिन्न होने पर नील इतना ही वेदमि (जानता हू) इतना ही अनुभव होगा, दोनों
का नहीं, दोनों का अनुभव होता है, अतः अनुभव से प्रसिद्धि होने के कारण नीलादि की
उसके ज्ञान से भिन्न की प्रतीति कैसे हो सकती है सौगत कहते हैं यह विकल्प ही है,
अनुभव नहीं है विकल्प से अन्यत्व का निश्चय नहीं हो सकता, कासनामात्र के कारण
होने वाला विकल्प व्यभिधारी होने के कारण, अन्यथा केशादि से उसके ज्ञान को भी
विकल्प से अन्यत्व की प्राप्ति हो जायगी। केशादि को जानता हू इस प्रकार तैमिरिक
(भेत्ररोग वाले) को यहां भी विकल्प की उत्पत्ति होने से।

केशादि से उसके ज्ञान को अन्यत्व का प्रसंग होता है तो हो, यह कहना ठीक
नहीं है। केशादि का बाहर अभाव होने से बाहर न होने पर ही उससे उसके ज्ञान की
भिन्नता है, यह भी नहीं कह सकते। केशादि का प्रतिभास नहीं होने पर केशादि से उसके
ज्ञान को यह भी नहीं कहा जा सकता। असत का प्रतिभास नहीं होता, ऐसा नहीं कह
सकते। विभ्रम के कारण असत का भी प्रतिभास होने से, प्रतिभास नहीं मानने पर नील तथा
उसके ज्ञान के अन्यत्व का भी प्रतिभास नहीं होगा, दोनों में असत्य समान होने से। ||13||

सत्यम्। विकल्पस्याऽपि न तत्प्रतिभासित्वं स्वसंविन्मात्रपर्यवसितत्वात्,
विकल्पान्तरमेव तु तत्र तत्प्रतिभासित्वमवकल्पयतीति चेन्न। तेनाऽप्य॑—
सतस्तस्यानवकल्पनात्। पुनर्विकल्पान्तरात्तस्य तदवकल्पकत्वे चानवस्थापत्या
नीलतद्वेदनविवेकविकल्प एव न भवेत्^२ न चैव, तस्य तस्याप्रतीतेस्ततो न
सङ्गतमिदं, विकल्पो ग्राह्यग्राहकोल्लेखेनोत्पत्तिवान्, सोऽपिस्वरूपे
ग्राह्यग्राहकरूपरहित एव^३ अपरेण तथा व्यवस्थाप्यत इति। ||14||

सौगत कहते हैं द्वितीय विकल्प ठीक है विकल्प भी उसका प्रतिभास नहीं करता
उसके स्वसंवेदन तक ही सीमित रहने से विकल्पान्तर ही विकल्प में प्रतिभासित्व की

^१ व्यभिधारात्।

^२ विकल्पात् क्वचिदन्यत्वनिश्चये।

^३ अन्यत्वप्रसंगो भवतु।

^४ असत्यात्।

^५ असतो ज्ञातिभासो वा प्रतिभास इति विकल्पयत्राह।

^६ द्वितीयविकल्पो धटते सौगतविशेषे।

^७ कर्तृतापश्च।

^८ स्थस्मनविद्यामनस्य।

^९ तदन्यत्वविकल्पाभावो न थ।

^{१०} अन्यविकल्पे विकल्पात्तरेणति यावत्।

कल्पना करा देता है, यह कहना भी लीक नहीं है। विकल्पान्तर के भी असत होने के कारण उससे विकल्प में प्रतिभास पनार की कल्पना नहीं की जा सकती। पुनः दूसरे विकल्पान्तर से प्रथम विकल्पान्तर को उस प्रकार मानने पर अनधरथा होने के कारण नील और उसके वेदन के विवेक का विकल्प ही नहीं होगा। किंतु ऐसा नहीं है, नील और उसके वेदन की प्रतीति होने से। अतः यह कहना तर्क संगत नहीं है कि याह्य ग्राहक के समान विकल्प उल्पन्न होता है किंतु वह भी आह्य, ग्राहक रूप से रहित ही है, दूसरे विकल्प से उसमें ग्राह्य ग्राहक की व्यवस्था की जाती है। ॥14॥

ततो न केशादेरपि तद्वेदनस्यानर्थान्तरत्वं यततश्चिदर्शनेन नीलादेरपि
तद्वेदनस्य तत्त्वं मघकल्पयेत् | ततो बहिरेव तद्वेदनानीलादिबहिरर्थः तत
इदभ्यनुपपत्रम् ।

^२ संवेदनेन बाह्यत्वं मतोऽर्थस्य न सिद्धयति ।
संवेदनाद्विभवे स एव तु न सिद्धयति ॥15॥

अतः केशादि उसके ज्ञान से अभिन्न नहीं है, जिससे उसको दिखाकर नीलादि को भी उसके ज्ञान से अभिन्न की कल्पना की जाय। अतः नीलादि बहिरर्थ उसके ज्ञान से पृथक् ही हैं। अतः यह कहना भी उपयुक्त नहीं है।
... ज्ञानेन होने के कारण संवेदन से अर्थ को बाह्यत्वं नहीं सिद्ध होता। संवेदन से बाहर होने पर तो अर्थ की ही सिद्धि नहीं होती। ॥15॥

इति संवेदनेनैव नीलादेस्तद्विभविस्थोक्तया नीत्या व्यवस्थापनात् ॥16॥

इस प्रकार संवेदन से ही नीलादि की संवेदन से बाह्य होने की उत्तरी नीति से व्यवस्था होने से। ॥16॥

यदि संवेदनाद्विभवे नीलादि कीं तस्य वस्तुसत्त्वं? तैमिरिककेशादि— वदिति चेत्, तत्केशादेपि न संवेदनबहिर्भवेनावस्तुसत्त्वमपि तु बाधकत्वात् नि-
चेद प्रसिद्धे नीलवस्त्रादावस्तीति। वरस्तु सत्रेवाऽयं कर्तव्यश्चवैमभ्युपगमः अन्यथा
नीलादेद्विरूपत्वेनैव संवेदनस्यापि प्रतिभासमानत्वेन तैमिरिककेशादिना
साध्यादवस्तुसत्त्वापत्तेः। अतः संवेदनबहिर्भवादबाधकत्वेन वरस्तुसत्त्वाच्यार्थ
एवनीलादिरवगान्तव्यः ॥17॥

^१ अन्यथा ।

^२ हेतुना ।

^३ नवायति ।

^४ तैमिरिककेशादियत् ।

^५ धर्मार्थसत् ।

पुनः सैंगत कहते हैं कि यदि नीलादि संवेदन से बाह्य ही हैं तो उनकी वस्तुसत्ता कैसे है लैमिरिक केशादि के समान। यदि यह कहते हों तो तैमिरिक केशादि को भी संवेदन से बाह्य होने के कारण अवस्तुत्व नहीं है अपितु बाधकत्व होने के कारण अवस्तुत्व है प्रसिद्ध नीत्यवश्व आदि में यह बाधकत्व नहीं है। वस्तु के सत् होने पर ही ऐसा मानना चाहिये। अन्यथा नीलादि वहि रूप के समान संवेदन के भी प्रतिभासमान होने के कारण तैमिरिक केश आदि के समानता होने के कारण अनसितत्व का प्रसंग आयेगा। इतः संवेदन से बाह्य होने के कारण बाधकत्व न होने के कारण वस्तु की सत्ता होने से नीलादि अर्थ ही हैं, ऐसा जानना चाहिये। ॥१७॥

यत्पुनरेतन्मतं । यथैव हि ग्राहकाकारः स्वरूपेण^१परोक्षो न ग्राहकान्तर—भावत् । तथा तेन समानकालोऽपि नीलादिक इति तत्र^२ भवतो यदि तादृशो नीलादिरपतिपत्तिविषयः कर्थं यथैवेत्यादिवचनं प्रतिपाद्य^३वत् । प्रतिपत्तिविषय—श्वेतर्हि कर्थं स्वरूपेणाऽपरोक्षत्वं, तस्य भवत्प्रतिपत्तिविषयतया परत एव तदुपपत्तेः प्रदप्तेतदपरं यथा चक्षुरादिकात् ग्राहकाकारः, तथा तत्समानकालो ग्राह्याकारोपीति तत्राऽपि समासमवायिनां^४ चक्षुरादेवहुत्वात् तज्जन्मनो विकसित—कुबलयदलनीलच्छायानुवर्तिनो नर्तकीरूपस्यापि बहुत्केन भवितव्यम् । न चैव, तदूपैकत्वे सर्वेषां तेषामेकवाक्यताप्रतिपत्तेः। व्यामोहादेव कुतश्चित्तत्र तेषामेक—वाक्यत्वं, वस्तुतो नानेव तद्रूपमितियेत् । कोशपानादेतत्प्रत्येतत्वं न प्रमाणतः। कुतश्चिदपि तदभावात् कुतश्चेदभवगतं ग्राह्याकारोऽपि चक्षुरादेविति ग्राहकाकारवत् ॥१८॥

आपका जो यह भत है कि जैसे ग्राहकाकार स्वरूप से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, उस प्रकार ग्राहकान्तर से नहीं, उसी प्रकार नीलादि भी आधार्थ कहते हैं कि यदि आपकी दृष्टि में नीलादि ज्ञान के विषय नहीं है तो फिर यथैव इत्यादि वद्यन से उसका प्रतिपादन कैसे किया जा सकता है, यदि प्रतिपत्ति के विषय हैं तो फिर वे स्वरूप से प्रत्यक्ष कैसे हैं? उसको आपके ज्ञान का विषय होने के कारण परतः ही ज्ञान होने से जो दूसरे यह कहते हैं कि जैसे चक्षु आदि से ज्ञान में ग्राहकाकार ज्ञात होता है, उसी प्रकार उसी समय ग्राह्याकार भी तो सभा में स्थित पुरुषों के चक्षु आदि के बहुत होने से उससे उत्पन्न होने वाले विकसित कमल पत्र की नील छाया का अनुकरण करने वाले नर्तकी के रूप को भी बहुत्व होना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं है, उसके रूप के एकत्व के संबंध में उभ सभी पुरुषों के एक रूपता का कथन होने से किसी अज्ञान से ही समक्ष उसमें एकसमता का कथन है, वास्तव में नहीं, वास्तव में तो उनका रूप भाना ही है, यदि यह कहो तो कोशपान (भदिशपान) से ही ऐसा जाना जाता है, प्रमाण से नहीं कहीं भी उसका अभाव होने से और

^१ ज्ञायत इति शेषः ।

^२ तत्र ।

^३ प्रतिपाद्यार्थोऽरथास्तीति प्रतिपाद्यवत् ।

^४ तद्वज्ज्ञानविषयतया ।

^५ ज्ञाने ज्ञायते ।

^६ पुरुषाणामिति शेषः ।

वादिराज की गुरु परम्परा मठाधीशों की थी, जिनमें दान लिया और दिया जाता था। ये स्वयं जिनभृदिरों का निर्माण करते, जीर्णोद्धार करते एवं अन्य भुग्नियों के लिये आहारदान की व्यवस्था करते थे। शक् ६५२२ भृत्यों की उत्स्कीण ४६४८ संख्यक अभिलेख में बताया गया है कि षट्दर्शन के अध्येता श्रीपाल देव के स्वर्गवासी होने पर उनके शिष्य वादिराज ने परवादिमल्ल नाम का जिमालय बनवाया था और उसके पूजन एवं मुनियों के आहारदान हेतु भूमिदान दिया था।

वादिराज सूरि के विषय में कहा जाता है कि इन्हें कुछ रोग हो गया था। एक बार राजसभा में इसकी चर्चा हुई तो इनके एक अनन्य भक्त ने गुरु के अपवाह के भय से झूल ही कह दिया कि उन्हें कोई रोग नहीं है। इस पर याद वियाद हुआ। अन्त में राजा ने स्वयं ही परीक्षा करने का निश्चय किया। भक्त घबराया हुआ वादिराज के पास पहुंचा और उन्हें समस्त घटना कह सुनायी। गुरु ने भक्त को आश्वासन देते हुए कहा—धर्म के प्रभाव से सब ठीक होगा। चिन्ता न करो। तभी वादिराज सूरि ने एकीभाव स्तोत्र की रचना की और इनका कुष्ठरोग दूर हो गया।

स्थितिकाल

वादिराज ने अपने ग्रन्थों की प्रशस्तियों में रचनाकाल का निर्देश किया है। ये प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और व्यायकुमुदधन्द के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता है। कहा जाता है कि चालुक्य भरेश जयसिंह की राजसभा में इनका बड़ा सम्भान था। एवं ये प्रश्नात वादी भाने जाते थे। जयसिंह (प्रथम) दक्षिण के सोलकी वंश के प्रसिद्ध महाराजा थे। इनके राज्य काल के फिलने ही दानधत्र तथा अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें सबसे पहला अभिलेख शक् संवत् ६३८ (ई. सन् १०७६) का है और सबसे अन्तिम शक् संवत् ६६४ (ई. सन् १०४२) का है। अतः इनका राज्यकाल सन् १०७६ से १०४२ ई. तक है।

वादिराज ने अपना पार्श्वनाथ चरित जयसिंह देव की राजधानी में रहते हुए शक् सं. ६४७ (ई. सन् १०२५) कार्तिक शुक्ल तृतीया को पूर्ण किया था।¹

यशोधरचरित के तृतीय सर्ग के अन्तिम पद्म और चतुर्थ सर्ग के उपान्त्य पद्म में कवि ने महाराज जयसिंह देव का चल्लोख किया है। जिससे विदित होता है कि यशोधरचरित की रचना भी कवि ने जयसिंह देव के समय में ही की है।

वादिराजसूरि जगदेकमल्ल द्वारा सामानित हुए थे, जिनका समय अनुभानतः सन् १०७० से १०३२ के मध्य का है। अतः वादिराज सूरि का समय १०७० ई. सन् से १०६५ ई. सन् तक का होना आहिये।

1. शाकाल्ले भगवार्धिरन्दगणने संवत्सरे कोधने। मासे कार्तिक नामिन बुद्धि महिते शुद्धे तृतीया दिने। सिंहे पाति जयादिके वसुमती जैनी कथेयं मया। निष्पति गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्ये। पा. च. प्र. ५। पद्म

के प्रछंडस रूप होने से अभाव रवभाव होने के कारण विरोध है। भाव और अभाव का परस्पर विरोध होने से विरोध है। ज्ञान और उसकी प्रमिति में इस प्रकार भाव और अभावरूपत्व नहीं है, जिससे उनमें एक दूसरे का विरोध होने से विरोध की कल्पना की जाय। अतः विरोध के कारण ज्ञान अपने को नहीं जानता यह नहीं कह जा सकता। ज्ञान को अपने को न जानने पर उसका नियत विषय ही ज्ञानस्य है, सभी नहीं यह कैसे कह सकते हैं। ज्ञाननियत विषय को ही प्रतिभासिल करता है यदि यह कहते हों तो यह अपने को नहीं जानता यह कैसे जाना जा सकता है। | 20 ||

न ताक्तत एव स्वप्रतिपत्तिवैकल्प्यात्। हि स्वप्रतिपत्तिविकलादेव
ज्ञानाऽत्र नियतार्थप्रतिभासनमन्यद्वा शक्यावबोधमा भूततस्तदवबोधस्तद्विषयात्
ज्ञानान्तराद्वयत्येवेति चेत्र, तस्यापि स्वप्रतिपत्तिवैकल्प्ये तत्रापि तद्विषयस्य ज्ञानस्य
नियतार्थगोचरत्वमेव प्रतिभाति न निरवशेषवस्तुगोचरत्वमिति तत
एवावगच्छशक्यत्वात्। तस्यापि नियतविषयत्वमन्यतस्तद्विषयादेव ज्ञानादवगम्यत
इति चेत्र, अनवस्थाप्रसंगात्। सत्येवमपरापरज्ञानपरेकल्पनस्थावश्यमावात् ततः
सुदूरमपि गत्वा ^१कवचित्तियतविषयत्वमध्यवसातुकामेन तद्विषयस्य “ज्ञानस्य
स्वप्रतिपत्तिरूपत्वमन्युपगच्छत्यम्। अन्यथा ततस्तद्विषयविज्ञाननियतार्थगोचरत्वप्रति-
पत्तेदुरूपपादकत्वात् ^२तथा च सिद्धमर्थज्ञानस्यापि तद्वत्स्वप्रतिपत्तिरूपत्वम-
विशेषात्। | 21 ||

उसी ज्ञान से जाना जाता है, यह नहीं कह सकते क्योंकि यह तो स्वज्ञान से रहित है। स्वज्ञान से रहित ज्ञान से ज्ञान में नियतार्थ गोचरता अथवा सर्वार्थगोचरता का ज्ञान नहीं हो सकता। उसी ज्ञान से उस ज्ञान की नियतार्थ गोचरता अथवा सर्वार्थगोचरता का ज्ञान नहीं होता तो न हो उसको विषय करनेवाले दूसरे ज्ञान से हो जाता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, उस दूसरे ज्ञान को भी स्वज्ञान से रहित होने के कारण उस ज्ञान में भी नियतार्थ विषय गोचरता ही प्रतीत होती है संपूर्ण विषय गोचरता नहीं। उसी ज्ञान से उसी ज्ञान को न जाना जा सकने के कारण उसका नियत विषयत्व अन्य तद्विषयक ज्ञान से जाना जाता है ऐसा कहते हों तो अनवस्था का प्रसंग आयेगा। ऐसा होने पर दूसरे दूसरे ज्ञान की कल्पना आवश्यक हो जाती है। अतः ज्ञान को नियतार्थ विषय गोचर मानने की इच्छा रखने वालों को कहीं न कहीं ज्ञान को स्वप्रतिपत्तिरूप मानने पर अर्थ ज्ञान को भी उसी के समान स्वप्रतिपत्तिरूपता सिद्ध हो जाती है। दोनों में समानता होने से। | 21 ||

यत्पुनरिदमनुमानं, “नात्मविषयमर्थज्ञानं वेदात्मात्कलाशादिवदिति” तत्र न लावद्वेष्यत्वं नाम सामान्यं तस्य नित्यत्वेन सर्वदा ^३भावेषु प्रसंगात् सामान्यादिषु

^१ ज्ञाने।

^२ सर्वार्थप्रतिभासनं।

^३ प्रथमज्ञाने।

^४ द्वितीयरूप।

^५ स्वप्रतिपत्तिरूपत्वे भूति।

^६ प्रथमज्ञानस्य।

^७ पदार्थेषु।

तदभावापत्तेश्च । न हि सामान्यादिषु सामान्यं द्रव्यादित्रय एव तदभ्युपगम-
मात्सामान्यादिषु तदभावापत्तेश्च । न हि सामान्यादिषु सामान्यं द्रव्यादि त्रय एव
तदभ्युपगमात्सामान्यदिषु तदभावापत्तेश्च । अस्ति च तत्रापि वेद्यत्वं, अन्यथा
व्योमकुसुमादिवत्तदभावापत्ते । अतो न तत्सामान्यं । भवतु साधर्म्यमेव
तद्वेदनविषयत्वस्य वेद्यत्वरय चाभिधानात् । तस्य सर्वेषां पदार्थसाधारणतया
द्रव्यगुणकर्मस्विव सामान्यविशेषसमवायेष्वप्यदिरोधात् । न तदभावापत्तिरिति चेत्
किं पुनर्स्तद्वेदनविषयत्वं यदिष्यत्वं तेऽत्मामर्थज्ञानस्योत्त्येत् तदेवार्थज्ञानमिति
चेत्र । अनात्मविषयत्वे तस्य तद्वेदनत्वानुपपत्ते, आत्मविषयत्वे च हेतुप्रतिज्ञायो
र्विरोधात् । तस्मादन्यदेव तदेकार्थं समवेतम्^१ नन्तरं तद्वेदनमिति चेत्र, तस्याद्याप्य-
सिद्धत्वात् ॥ 22 ॥

फिर जो यह अनुमान है—“नात्मविषयमर्थं ज्ञानं वेद्यत्वात्कलशादिवत् अर्थ को
जानने याता ज्ञान अपने को नहीं जानता, वेद्य होने के कारण कलशादि के समान यहाँ
वेद्यत्व सामान्य नहीं है क्योंकि वेद्यत्व सामान्य तो भित्यरूप से सदा पदार्थों में ही रहता है,
सामान्यादि में उसका अभाव होने से। सामान्यादि में रामान्य नहीं होता है, वह द्रव्य, गुण,
कर्म इन तीनों में ही माना गया है, सामान्यादि में उसका अभाव होने से। वेद्यत्व अर्थ ज्ञान में
भी है अन्यथा आकाश कुसुम के समान उसके अभाव का प्रसंग आयेगा। अतः वेद्यत्व सामान्य
नहीं है विषेषी कहते हैं वेदनविषयत्व और वेद्यत्व में साधर्म्य मान लो, सभी पदार्थों में
साधारण होने के कारण द्रव्यगुण कर्म के समान सामान्य विशेष समवाय में भी विरोध न
होने से उसके अभाव की आपत्ति नहीं है, यह कहते हो तो यह बताओ कि वह ज्ञान क्या
है? जिसका विषय वेद्यत्व अर्थज्ञान को कहा जाय, वही अर्थज्ञान है, यह नहीं कह सकते,
उसके आत्म विषय न होने के कारण उसके द्वारा उसका वेदन नहीं हो सकता। आत्मविषय
होने पर तुम्हारे हेतु और प्रतिज्ञा में विरोध होता है। अर्थ ज्ञान से भिन्न ही उसके साथ एक
ही अर्थ में समवेत होकर बाद में उसका वेदन करता है, यह भी नहीं कह सकते, उसकी
अभी तक सिद्धि नहीं होने से ॥ 22 ॥

अर्थज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं वेद्यत्वात् कलशादिवदित्यतः एवानुमानात्सत्सिद्धिरिति
चेत्र, परस्परश्रयापत्ते, तत्सद्वावनुमानमनुमानाच्य तत्सिद्धिरिति ॥ 23 ॥

प्रथम अर्थज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाता है, वेद्य होने के कारण कलशादि
के समान, इस अनुमान से ही उसके अनात्मविषयत्व की सिद्धि हो जाती है यह कहना भी
उक्तित नहीं है, अन्योन्यश्रय होने के कारण प्रथम ज्ञान के अनात्मविषय सिद्ध होने पर
अनुमान की सिद्धि हो सकती है और उक्त अनुमान के सिद्ध होने पर उसके अनात्म
विषयत्व की सिद्धि हो सकती है ॥ 23 ॥

¹ विरुद्धत्वादिति भावः ।

² अर्थज्ञानात् ।

³ तेन सहैकस्मिन्नर्थं समवेत् ।

⁴ परश्चादुत्पन्नं ।

अन्यतस्तत्सिद्धिरिति^१ चेन्न | अनुमानस्य वैयर्थ्यप्रसंगात् | किं वा तदन्यत? प्रत्यक्षमिति चेन्न, तस्याऽप्यव्यतिरिक्तस्यानभ्युपगमात् | व्यतिरिक्तमिति चेत्, किं मयं नियमः सति विषये तद्वेदनमवश्यमिति | तथा चैत्रार्थज्ञानवेदनवत्तद्वेदनेऽप्यन्यत - द्वेदनं तत्राऽप्यन्यदित्यासंसारं तद्वेदनप्रबन्धस्यैव प्रवृत्तेन विषयान्तरसंचारो वेदनस्य मवेदिति कथमनुमानम् | | 24 ||

अन्य ज्ञान से उसकी सिद्धि होती है, यह कहना भी ठीक नहीं है, अनुमान के व्यर्थ होने का प्रसंग होने से | अथवा वह अन्य ज्ञान क्या है, प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते, उसको भी द्वितीय ज्ञान से अभिन्न नहीं मानने से | यदि भिन्न मानते हो तो क्या यह नियम है कि विषय होने पर उसका वेदन अवश्य हो, यदि ऐसा मानते हो तो वह भी ठीक नहीं है प्रथम ज्ञान के वेदन के लिए अन्य ज्ञान और उसके वेदन के लिए अन्य ज्ञान इस प्रकार आजम्ब ज्ञान के वेदन की ही परंपरा होने से किसी दूसरे विषय में उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी | अतः अनुमान भी अन्य ज्ञान के द्वारा प्रथम ज्ञान की वेद्य कैसे सिद्ध कर सकता है | | 24 ||

धर्मज्ञानतज्ज्ञानप्रबन्धस्यानुपरमे^२ हेतुदृष्टान्तयोरनुपपत्तेर्माभूदयं नियम इति चेन्न तर्हि धर्मिण्यपि वेदन नियम इति कथं तस्य तद्वेदत्यस्य हेतोर्वा सिद्धिरित्यसंभव एवानुमानस्य भवेत् | | 25 ||

धर्मी ज्ञान और उस ज्ञान के ज्ञान की परंपरा के समाप्त न होने तथा हेतु और दृष्टान्त की उत्थति नहीं होने से यह नियम न हो यदि ऐसा कहते हो तो धर्मी ज्ञान में भी वेदन का नियम नहीं होगा, फिर उसके वेद्यत्व हेतु की भी सिद्धि कैसे होगी? अतः उक्त अनुमान असंभव ही हो जायगा | | 25 ||

अथ वेदात्त्वमर्थज्ञानस्य न विशिष्टमुपादीयते, 'तदत्कृतत्वेन अवशिष्टस्यैव तस्य हेतुत्वादिति चेत्, कथं तस्यानात्मविषयत्वे साध्ये हेतुत्वं? तेनैव कलशादौ तस्य व्याप्तिदर्शनादिति चेत्, न व्याप्तिज्ञाने आत्मविषयत्वेनापि 'तस्य तदर्शनात्, न हि 'प्रादेशिकी व्याप्तिः | साध्यप्रतिपत्तेनिर्मितं तत्पुत्रत्वादावपि तद्वाल् श्या^३मत्वादेस्ततोऽपि सिद्धिप्रसंगात् | अपि तु साकल्येन तत्र यद् यद्

^१ दृतीयज्ञानात् ।

^२ द्वितीयज्ञानाव्यतिरिक्तस्य ।

^३ कुतः स्वप्रतिपत्तिप्रसंगात् ।

^४ प्रभवति न वेति शेषः ।

^५ प्रथमज्ञानलक्षणे ।

^६ अन्यस्थाने ।

^७ अन्यज्ञानकृतत्वेन ।

^८ साध्यस्य ।

^९ प्रदेशी भवा प्रादेशिकी ।

^{१०} साध्यस्य ।

वेद्यं तत्त्वसर्वमनात्मविषयमिति किंचिद्द्विः^१ज्ञानमुत्पद्यमानमात्मविषयमपि भवितु—
महति। अन्यथा तद्वेद्यत्वस्यानात्मविषयतया व्याप्तेस्तत एवाप्रतिपत्तिप्रसंगात्,
‘तथा च व्यभिचारि वेद्यत्वं व्याप्तिज्ञानेन तत्रात्मनि विषयत्वस्यमावेऽपि तस्य
भावात्। एवमीश्वरज्ञानेनापि। न हि तस्याथ्यनरत्भाविषयत्वं, ‘अर्थविषयत्व—
प्रसंगात्। ॥२६॥

यदि यह कहो कि अर्थज्ञान को वेद्यत्वा विशिष्ट नहीं माना है उसके अन्य ज्ञान का
वेद्यत्व होने के कारण अधिशिष्ट वेद्यत्व को ही अनात्मविषय साध्य का हेतु होने से तो यह
बताओ कि वह अनात्मविषय साध्य का हेतु कैसे है? यदि यह कहो कि उसी वेद्यत्व हेतु से
कलशादि में उसकी व्याप्ति देखी जाने से तो यह कहना ठीक नहीं है व्याप्ति ज्ञान में
आत्मविषयत्व के साथ भी साध्य की वेद्यत्व हेतु के साथ व्याप्ति देखी जाने से व्याप्ति कहीं
हो कहीं नहीं ऐसा नहीं होता। साध्य की प्रतिपत्ति के निमित्त लत्युक्त्व आदि में भी व्याप्ति
होने से इयामत्व आदि साध्य की तत्पुत्रत्वात् हेतु से भी सिद्धि का प्रसंग होने से। व्याप्ति
होने से संपूर्ण रूप से ही होती है संपूर्ण रूप से व्याप्ति होने पर “यत् यत् वेद्यं
तत्त्वसर्वमनात्मविषयम्” इस प्रकार की व्याप्ति ज्ञान आत्मविषय के पक्ष में भी हो सकती है
अन्यथा वेद्यत्व की अनात्मविषयत्व के साथ व्याप्ति होने से उससे ही अप्रतिपत्ति का प्रसंग
आधेगा। व्याप्ति ज्ञान के आत्मविषयत्व होने पर वेद्यत्व हेतु व्यभिचारी हो जाता है व्याप्ति
ज्ञान से अपने को विषय करने का अभाव होने पर भी वेद्यत्व हेतु के होने से ईश्वर ज्ञान
के साथ भी वेद्यत्व हेतु व्यभिचारी है क्योंकि वह अनात्मविषय नहीं है अन्यथा वह सभी
विषय को जानने वाला नहीं हो सकता। ॥२६॥

तथा च कर्थं तस्य ‘तज्ज्ञानेन सर्वज्ञत्वं?’ तेन तदपरस्य सकलस्य^४ तस्य
च तदन्येन ग्रहणादिति घेत्, कर्थं तदन्येनाप्यस्यविषयेण स्वविषयतया
परस्परपरिज्ञानमित्यप्रतिपत्तिरेव। तेन तस्यासकलप्रतिपत्तेरनभ्युपगमादित्यतोऽस्ति
तस्याऽस्त्वविषयत्वं^५। तथा घेत्किमपराद्बं ‘द्विषयेण ज्ञानेन’ यत्स्यैवात्मविषयत्वं
नेष्यते इति सिद्धम् तेनापि व्यभिचारित्वं वेद्यत्वस्य तत्रानात्मविषयत्वामावेऽपि
तस्य भावादिति। ॥२७॥

अर्थज्ञान के स्वविषयत्व नहीं होने पर द्वितीय ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञत्व कैसे हो
सकता है। प्रथम ज्ञान के द्वारा अन्य सकल वरतु का और प्रथम ज्ञान का अन्य ज्ञान से
ग्रहण होने से यदि यह कहे तो किर उस अन्य ज्ञान को भी रूप को विषय भ करने वाला
होने से स्वविषय रूप से परस्पर ज्ञान कैसे होगा? अतः स्व ज्ञान की अप्रतिपत्ति ही
होगी। सर्वज्ञ के ज्ञान के द्वारा असकल प्रतिपत्ति नहीं मानी गई है। अतः ज्ञान का

^१ व्याप्तिज्ञानम्।

^२ व्याप्तिज्ञानस्यात्मविषयत्वेन।

^३ द्वितीयज्ञानेत्यर्थः।

^४ वरस्तुनः।

^५ द्वितीयज्ञानस्यात्मविषयत्वेन।

^६ द्वितीयज्ञानविषयेण।

^७ यस्मात् हेतोः।

आत्मविषयत्व सिद्ध होता है। यदि द्वितीय ज्ञान को आत्मविषयत्व मानते हों तो द्वितीय ज्ञान के विषय प्रथम ज्ञान ने ही क्या अपराध किया है, जिससे उसी को आत्मविषयत्व नहीं मानते। अतः इससे भी वेदात्म हेतु का व्यभिचारित्व सिद्ध होता है, अनात्मविषयत्व के अभाव में भी वेदात्म हेतु के होने से। |27||

नानुमानादप्यनात्मविषयत्वमर्थज्ञानस्यात्मविषयत्वं तु तस्यानुभवप्रसिद्धं—
मतः किं तत्रानुमानेन, यदि निर्बन्धस्तदुच्यते एव। अर्थज्ञानमात्मविषयमर्थ—
विषयत्वात्, यत्पुनर्नात्मविषयं तदर्थविषयमपि न भवति यथा घटादि। अर्थविषयं
विवादापन्नं ज्ञानं तस्मादात्मविषयमिति केवलव्यतिरेकी हेतु, तस्य परैरपि
गमकत्वाभ्यनुज्ञानात् तत्रार्थविषयत्वमेव ज्ञानस्येत्युपपन्नं नैयायिकस्य, स्वविषयत्व—
स्यापि तत्र भावात्। |28||

अनुमान से भी अर्थज्ञान को आत्मविषयत्व की सिद्धि नहीं होती, उसका आत्मविषयत्व तो अनुभवप्रसिद्ध है, अतः उसमें अनुमान की क्या आवश्यकता है? यदि आवश्यक ही है तो वह भी कहा जाता है—अर्थज्ञान आत्मविषय वाला है अर्थविषय वाला होने से जो आत्मविषय वाला नहीं है, वह अर्थविषय वाला भी नहीं है जैसे घटादि। अर्थज्ञान अर्थविषय वाला है, अतः वह आत्मविषय वाला भी है, यह केवल व्यतिरेकी हेतु है जो विषय के द्वारा भी स्वीकार किया गया है। अतः नैयायिक का यह कथन कि ज्ञान का विषय केवल अर्थ है, उचित नहीं है, ज्ञान में स्वविषयत्व के भी होने से। |28||

मीमांसकस्याह परोक्षमेव सकलमपि ज्ञानं स्वप्रकाशवैकल्यात् प्रत्यक्षं तु
बहिरर्थस्य तेन तस्यैव प्रकाशनात् इति। |29||

मीमांसक कहते हैं—सभी ज्ञान परोक्ष ही हैं अपने को प्रकाशित नहीं करने के कारण प्रत्यक्ष तो उससे उस बाह्य अर्थ का प्रकाश करने के कारण है। |29||

‘तत्र प्रकाशकत्वे सति कुतस्ततोऽर्थस्यैव प्रकाशो न स्वरूपस्य?
शक्तिवैकल्यात्। तथाहि, यद्युप्राशकं न तत्स्यप्रकाशकं, यथा चक्षु रसादेरशक्तं
च सकलमपि संवेदनं स्वप्रकाशो इति तद्वैकल्यमिति चेत् अस्यानुमानस्यापि यदि
तद्वैकल्यं, अनुमानान्तरात्स्यापि तदन्तरात्वैकल्यं प्रतिपत्तव्यमिति कथमन—
वस्थितिनंभवेत्? अभि॑रूच्यभावात्, यावदभिरूच्यिस्तावदेव भवत्यनुमानस्य प्रबन्ध—
स्तदभावे त्ववस्थितिरेवेति चेत्र॑, तर्हि॒ ‘कुतरिचिदपि सकलस्य संवेदनस्य
प्रकाशवैकल्यप्रतिपत्तिरिति—कथं तत्र परोक्षत्ववधन्? ततः सकलस्यापि संवेदनस्य

¹ जैन पृच्छति।

² मीमांसको यदति।

³ ज्ञानं न स्वप्रकाशकं तत्र तस्याशक्तत्यात्।

⁴ आकांक्षाभावात्।

⁵ जैन आह।

⁶ अनुमानात्।

स्वप्रकाशवैकल्यमनुभाना^१ दवजिगमिषता स्वप्रकाशकमेव तदभ्युपगन्तव्यम्।
तद्वदर्थज्ञानमपि तस्याप्यनुभानव^२ दन्तोरूपतया परिस्फुटस्यावलोकनात् तत्त्वज्ञतेरपि
तत एवाध्यवसायात्। सत्यपि परोक्षत्वे कुतस्तस्य प्रतिपत्तिः अन्यथा
तदभ्यनुज्ञानानुपपत्तेः ॥३०॥

जैनाच्छर्य कहते हैं—ज्ञान में प्रकाशत्व होने पर उससे अर्थ का ही प्रकाश होता है तथा रूप का नहीं यह कैसे है? यदि यह कहते हो कि शक्ति न होने के कारण। क्योंकि जो जहाँ शक्त नहीं है, वह उसको प्रकाशित नहीं करता जैसे चक्षु इन्द्रिय रसादि का। सभी ज्ञान स्व को प्रकाशित करने में अशक्त हैं, यह भी शक्ति वैकल्य है यदि ऐसा कहते हो तो इस अनुभान का शोषण धैकल्य नूसरे अनुभान से और उसका भी दूसरे अनुभान से शक्ति वैकल्य जानना चाहिये। ऐसा होने पर अनवस्था कैसे नहीं होगी? आकांक्षा के नहीं होने से अनवस्था नहीं होगी। जब तक आकांक्षा होगी तब तक ही अनुभान की योजना होगी, आकांक्षा के न होने पर अवस्थिति ही होगी। यदि यह कहते हो तो किसी अनुभान से सभी ज्ञान के प्रकाश रहितता की प्रतिपत्ति नहीं होगी फिर सभी ज्ञान को परोक्ष कैसे कहा जा सकता है? अतः अनुभान से सभी ज्ञान को स्वप्रकाश रहित जानने के इच्छुक को उसे स्वप्रकाशक ही मानना चाहिये। उसी प्रकार अर्थज्ञान को भी स्वप्रकाश मानना चाहिए। उसको भी अनुभान के समान अन्तर्मुख रूप से स्वयं को स्पष्ट रूप से जानने के कारण उसकी शक्ति का भी उसी से निश्चय होने के कारण। यदि परोक्ष भाव भी ले तो उसकी प्रतिपत्ति कैसे होगी? प्रतिपत्ति न होने पर उसको स्वीकार न किये जाने का प्रसंग होने से ॥३०॥

अर्थप्रकाशादेव^३ तस्य तदन्यथानुपपत्तया निर्णयादिति चेत्र^४ तत्प्रकाशस्य
ज्ञानधर्मत्वे ज्ञानवत्परोक्षस्यैव भावात्, तत्र च तदन्यथानुपत्तेनिर्णयः^५ परिज्ञात एव
तदुपपत्तेः। परिज्ञात एवाय^६ स्वत इति चेत्, न तर्हि परोक्षत्वं ज्ञानस्य।
तद्वर्मस्यार्थप्रकाशस्य स्वप्रकाशत्वे तदव्यतिरेकिणो ज्ञानस्यापि तदुपपत्तेः।
अन्यतस्तस्य परिज्ञानमिति चेत् किं पुनरत्र तदन्यत् प्रत्यक्षमिति चेत्र
तस्येन्द्रियसंप्रयोगादुत्पत्तेः ज्ञानधर्मे व्यार्थप्रकाशे तदभावात् कर्थं तत्र प्रत्यक्षत्वैव
सत्यपि^७ तस्मिस्तत्प्रकाशवस्तुर्मिणो^८ ज्ञानस्यापि तत एव प्रतिपत्तेव्यथमनुभान
भवेत्^९। तत्र ज्ञानधर्मस्तप्रकाशः भवत्वर्थस्यैव सधर्म हति चेत्, न, तस्यापि स्वत
प्रतिपत्तिर्थस्याचेतनत्वेन तदनुपपत्तेः। चेतनत्वे तु विज्ञानस्यैवावस्थितेः न बहिरर्थो

^१ ज्ञानुभिक्षुता भीभासकेन।

^२ अलमूर्खरूपतया।

^३ तत्प्रतिपथशिरिति शेषः।

^४ जैन आह।

^५ निरिचते वस्तुनि।

^६ स्वत परतो वा इति शंकायां स्वत इति चेत्।

^७ जैन आह।

^८ प्रवक्तृत इति शेषः।

^९ प्रत्यक्षे।

^{१०} अर्थप्रकाशधर्मिणः।

^{११} सयि ज्ञानधर्मित अर्थप्रकाशादन्यथानुपपत्तेः।

नामेति तत्त्विदन्धनः कर्तिवदपि कियाविधिः स्यात् परतः प्रतिपत्तावपि
 १ तस्मादात्मैज्ञानस्यैव कुलोऽनुभानं, न २ परज्ञानस्य ततोऽपि तत्प्रकाशसंभवात् ।
 तस्याप्रत्यक्षत्वेन तत्कृतस्य तत्प्रकाशस्याशक्यप्रतिपत्तिकत्वादिति चेत्, आत्म-
 ज्ञानस्याप्यप्रत्यक्षत्वाविशेषात् । तत्रार्थधर्मस्यापि तस्य कुलशिवदिः
 न चासिद्धस्यान्यथानुपपत्तिनिर्णयोः ३ बलस्तदनुभान्त्यज्ञानस्य ४ तातुकः ।
 “अन्यथानुपपत्त्वमसिद्धस्य न सिद्धयतीति” ततोऽर्थस्य प्रत्यक्षत्वमन्विष्टता
 प्रत्यक्षमेतज्ञानमभ्युपगत्व्यम् । अनुभवस्यापि तथैव भावात् ॥३१॥

अर्थप्रकाश से ही उसकी प्रतिपत्ति हो जायेगी। ज्ञान के द्विना अर्थप्रकाश की उत्पत्ति न होने का निर्णय होने से जैनाचार्य कहते हैं यह कहना भी उचित नहीं है। अर्थप्रकाश को ज्ञान का धर्म होने से उसको भी ज्ञान के समान परोक्ष होने से। यदि यह कहो कि अर्थप्रकाश के अन्यथानुपपत्ति का निर्णय ज्ञात ही है उसकी उत्पत्ति होने से तो यह खलाओं कि वह परिज्ञात स्वतः है या परतः। यदि स्वतः परिज्ञात है तो किर ज्ञान को परोक्षत्व नहीं सिद्ध होगा, ज्ञान के धर्म अर्थप्रकाश को स्वप्रकाशक होने पर उससे अभिष्ठ ज्ञान को भी स्वप्रकाशक होने का प्रसंग होने से। यदि अन्य ज्ञान से उसका ज्ञान कहते हो तो वह अन्य ज्ञान क्या है? प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता क्योंकि वह तो तुम्हारे यहां इन्द्रियों का संबंध होने पर होता है और ज्ञान के धर्म अर्थप्रकाश में इन्द्रियों का संबंध नहीं होता किर उसे प्रत्यक्ष कैसे भानोगे? प्रत्यक्ष के हीभै पर भी अर्थप्रकाश के समान अर्थप्रकाश के धर्मी ज्ञान की भी उसी से प्रतिपत्ति हो जाने पर अनुमान व्यर्थ हो जायेगा। अतः अर्थप्रकाश ज्ञान का धर्म नहीं है। मीमांसक कहते हैं—अर्थप्रकाश को अर्थ का ही धर्ममान लो तो जैनाचार्य कहते हैं कि उसकी भी स्वतः प्रतिपत्ति नहीं होगी, अर्थ के अचेतन होने से स्वतः प्रतिपत्ति नहीं होने से चेतन तो ज्ञान ही होता है। किर कोई बाह्य अर्थ नहीं होगा जिसके कारण कोई कियाविधि हो। परतः प्रतिपत्ति भानने पर भी उससे आत्मज्ञान का ही अनुमान क्यों है? परज्ञान का क्यों नहीं क्योंकि पर ज्ञान से भी अर्थप्रकाश संभव है पर ज्ञान के परोक्ष होने के कारण उसके द्वारा किये गए उसके प्रकाश की प्रतिपत्ति नहीं होने से यह कहना भी ठीक नहीं है, आत्म ज्ञान के भी पर ज्ञान के परोक्षत्व की समानता होने से। अतः अर्थधर्म की भी किसी प्रभाण से रिद्धि नहीं होती। असिद्ध के अन्यथानुपपत्तिका निर्णय नहीं किया जाता, जिससे अर्थज्ञान के विषय में पूर्वोक्त अनुमान का प्रयोग हो। कहा भी है—“अन्यथानुपपत्त्वमसिद्धस्य न सिद्धयतीति” अतः अर्थ को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के इच्छुक को अर्थ ज्ञान को ही प्रत्यक्ष भान लेना चाहिये। अनुभव भी ऐसा ही होने के कारण ॥३१॥

न^१ चैवं रचपरविषयतया मरीचिकातोयादिवेदनस्यापि प्रामाण्यप्रसङ्गः ।
 समीचन^२ एव तदुपगमात् न च तद्वेदनस्य सम्यक्त्वं बाधकत्वात् । न^३ समानविषयेण
 बाधरत्ततः संवादेन सम्यक्त्वस्यैवोपपत्तेः । नाऽपि विसदुश्विषयेण नीलज्ञानेन

^१ कियाविधे ।

^२ रचकीयस्य ।

^३ परकीयस्य ।

^४ उक्तप्रकाशेण ज्ञानस्य स्वप्रकाशकत्वे राति ।

^५ ता-षष्ठी-सत्यशयेत्यर्थः ।

^६ प्रभाकर आह ।

पीतज्ञानेन पीतज्ञानस्य तत्प्रसंगात् बाधोऽपि न स्वरूपापहार १उत्पत्तिसमये तद्वावे
तस्यानुत्पत्तिप्रसंगात् । अन्यदा च २स्वयमेव नाशात् । नापि विषयापहारस्तस्य
भराधिपधर्मत्वेन ज्ञानेष्वसंभवात् । न च फलापहारः फलस्यापि
विषयपरिच्छेदप्रवृत्त्यादेस्ततो दर्शनात् । न चापरो बाधप्रकार इति चेत्र,
तद्विषयासत्त्वज्ञापनैस्यैव बाधकत्वात्, तस्य च मरीचिकाप्रत्यये सति नेदं तोयं
किंतु मरीचिका इत्याकारस्यावलोकनात् । कर्तव्यशैवमभ्युपगमोऽन्यथाबा॑धासत्त्व
स्यापि अवबोध । नानुपपत्तेः । न समानविषयेणेत्यादिविद्यारस्य
वैयर्थ्योपनिपातात् । तत्र विपर्ययस्य प्रामाण्यमसम्यक्वात्, एवमव्युत्पत्तेभृत्यायोरपि
तत्रापि यथातत्त्वं – निर्णयस्य सम्यक्त्वस्याभावात् । ३२ ॥

इस प्रकार ज्ञान के स्वपर विषय वाला होने से मृगजल के ज्ञान को भी प्रमाणता
का प्रसंग भी हो सकता समीचीन ज्ञान में ही प्रमाणता मानी जाने से मृगजल का ज्ञान
सम्यक्त्वं नहीं है, बाधा होने से प्रभाकर फहते हैं समान विषय के कारण बाधा है कि
असमान विषय के कारण?समान विषय के कारण तो बाधा हो भी सकती उससे सम्यक्त्व
की ही उत्पत्ति होने से असमान विषय से नीलज्ञान से पीत ज्ञान होने के कारण पीतज्ञान
को बाधा का प्रसंग आयेगा । बाधा स्वरूपापहार नहीं हो सकता । यदि स्वरूपापहार बाधा है तो
यह उत्पत्ति के समय है कि अनुत्पत्ति के समय?उत्पत्ति के समय मानने पर उसकी उत्पत्ति
ही नहीं होगी । अनुत्पत्ति के स्वर्थं का ही भाश हो जायेगा । विषयापहार भी नहीं कह सकते
भिश्चय रूप से ज्ञान में उसके सम्बन्ध नहीं होने से फलापहार भी नहीं है विषयज्ञान की
प्रवृत्ति आदि फल भी उसमें देखे जाने से अन्य कोई बाधा का प्रकार नहीं है । आचार्य कहते
हैं ऐसा नहीं कह सकते, उसके विषय के न होने का ज्ञान ही बाधक होने से उसके
मृगजल होने का ज्ञान होने पर यह जल नहीं है किंतु मृगजल है इस प्रकार का अवलोकन
होने से । यह मान लेना चाहिये अन्यथा बाधा के होने का भी ज्ञान नहीं हो सकेगा । ‘न
सम्भन्दिष्येण’ इत्यादि विद्यार भी व्यर्थ हो जायेगे । अतः विपर्यय ज्ञान प्रमाण नहीं है,
असम्यक्त्वं होने से । इसी प्रकार संशय और अनन्यवसाय में भी प्रमाणता नहीं है वहां भी
तत्त्व का व्यर्थार्थ निर्णय करने वाले सम्यक्त्वं का अभाव होने से । ३२ ॥

तत्स्तो॑ यादावेय तत्प्रत्यस्य तद्वैष्टः तस्य चाम्यासदशायां स्वतं
एवावगमोऽन्यथा॑ तु पद्मगन्धोदकाहरणादेलिङ्गविशेषात् । न चैव लिङ्गप्रत्यय—
सम्यक्त्वस्यायन्यतो लिङ्गादवगमे उनवस्थानं दूरानुसरणेऽपि कर्त्यविदम्यस्त—
विषयस्य तत्प्रत्ययस्य संभवात् । ततः सुपरिज्ञानत्वात् ज्ञानेषु सम्यक्त्वस्यैवोपपत्रं,
इदं सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणं अन्यथा तदनुपपत्तेरिति । ३३ ॥

^१ उत्पत्तिसमयेऽन्यदा वा ।

^२ बाधकमंतरेण प्रथमज्ञानस्य ।

^३ निवेदनस्य ।

^४ प्रतिशोणिभूतबाधज्ञानाभावे तदभावज्ञानानुपपत्तेः ।

^५ अनन्यवसायः ।

^६ न तु मरीचिकादौ तत्प्रत्ययस्य तद्वैष्टः ।

^७ अनम्यासदशायां ।

अतः जल आदि में ही जल आदि का ज्ञान प्रमाण है, उसका अभ्यास दशा में स्वरूप ही ज्ञान होता है, अनभ्यास दशा में कभी भी गंध तथा जल आदि के लाभे आदि के अनुमान से इस प्रकार अनुमान से जानने वाले सम्यक्त्व को अन्य अनुमान से जानने वाले सम्यक्त्व को अन्य अनुमान से जानने पर अनवरत्या नहीं होती कहीं दूर जाकर किसी अभ्यस्त विषय का ज्ञान होने से अलग भली प्रकार जानने के कारण ज्ञानों में सम्यक्ज्ञान को ही प्रमाणता है। यह सम्यक्ज्ञान ही प्रमाण है, सम्यक्ज्ञान के बिना प्रमाणता की उत्तरति नहीं होने से। ॥३३॥

**देवरथ मतमुद्धीक्ष्य विचारज्ञानिनां प्रभोः ।
मयाऽभ्यधायि संक्षिप्य प्रमाणस्येह लक्षणम् ॥१॥**

प्रभु देव के मत का विचार कर ज्ञानियों के लिए यहाँ संक्षेप में प्रमाण का लक्षण कहा है।

इति श्रीभद्रादिराजसूरिप्रणीते प्रमाणनिर्णये प्रमाणलक्षणनिर्णयः ॥

इस प्रकार श्री वादिराजसूरि द्वारा प्रणीत प्रमाण निर्णय यन्थ में प्रमाण के लक्षण का निर्णय किया गया है।

* * *

प्रत्यक्षनिर्णयः । प्रत्यक्षनिर्णय

तत्त्वं प्रमाणं द्विविधं, प्रत्यक्षं परोक्षं चेति तत्र यत्स्पष्टावभासं तत्प्रत्यक्षम् । किं पुनरिदं स्पष्टयं नाम?^१ विशेषावबोध इति घेन्न, सामस्त्येन संसारिज्ञाने क्वचिदपि तदभावात्^२, असामस्त्येन तद्वावस्य परोक्षे प्रत्ययेऽपि भिद्यानस्य मानत्वात् । आलोकपरिकलितग्रहणं तदिति घेन्न, अव्याप्ते, रूपज्ञान एव तस्य भावात्, न स्पर्शादिज्ञानेषु । न चैतेषामप्रत्यक्षत्वमेव, तत्प्रत्यक्षत्वस्य निर्विवादत्वात् । अव्यवहितग्रहणं तदित्यपि न मन्तव्यं, निर्मलस्फटिकव्यवहितेऽपि वस्तुनि स्पष्टस्यैव तद्वानस्यावलोकनात् । वृक्षोऽयं शिंशपात्वादित्यादेनुभानस्यापि “प्रत्यक्षत्वप्रसक्तिरव्यवहितग्रहणात्, तस्मादन्तर्मलविश्लेषनिबन्धनो विशुद्धिविशेषं” एव स्पष्ट्यमित्युपपत्रम् । ॥३४॥

^१ विभेदं ज्ञानं प्रत्यक्षं भवितुमहेति विशेषदग्नोधकत्वास् ।

^२ भागारिन्द्र्य इति भावः ।

^३ परोक्षप्रमाणनिर्णयप्रसक्ते वल्यमाणत्वा दिति निर्गलितोऽर्थः ।

^४ अनैकातिकदोषो भवेदिति भावः ।

^५ प्रत्यक्षमनुयूसरूपं सामान्यं परोक्षत्वावृत्तरूपं तदेव विशेषः ।

कह प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इसमें जो स्पष्ट अवभास है, यह प्रत्यक्ष है। यह स्पष्टता क्या है? विशेष ज्ञान यह नहीं कह सकते, पूर्णरूप से संसारी ज्ञान में कहीं भी उसका अभाव होने से। असंपूर्ण रूप से स्पष्टता का परोक्ष प्रमाण में कथन किया जायगा। प्रकाश से युक्त ग्रहण स्पष्टता है, यह भी नहीं कह सकते व्याप्ति नहीं होने से, रूप ज्ञान में ही अलोक होने से स्पर्शादि ज्ञान में नहीं। स्पर्शादि के ज्ञान को परोक्ष भी नहीं कह सकते, स्पर्शादि के ज्ञान को निर्विकाद रूप से प्रत्यक्ष होने से। आवरण रहित को ग्रहण करना स्पष्टता है, यह भी नहीं मानना चाहिये, निर्मल स्फटिक से आयृत वस्तु में भी स्पष्ट अद्वभास होने से। यदि अव्यवहित के ग्रहण को स्पष्ट मानोगे तो “यह वृक्ष है शिंशधा होने से” इस अनुमान मात्र को ही प्रत्यक्षत्व का प्रसंग आयेगा। अतः अन्तः करण के मल के पृथक हो जाने के कारण विशुद्धि विशेष ही स्पष्टता है, यह सिद्ध हुआ। ॥३४॥

'सामान्यविशेषः स्पष्ट्यमिति चेदभिमतमिदं विशुद्धिविशेषस्यैव तत्त्वप्रत्यक्षसदृशतया तद्विशेषत्वात् नित्यनिरवयवरूपस्य च तस्य प्रत्याख्यानात्। कुतः पुनरिदमवगतं स्पष्टमेव प्रत्यक्षमिति?' द्वितीयाद्वैतिकाणि तत्त्वादिति कुतः? तथैव प्रत्यक्षेणावेकणात् प्रत्यक्षस्य स्पष्टत्वे^३ स्वानुभवनेन तथैवान्वीक्षणादिति समाप्तिः ॥ ३५ ॥

जीगामार के अनुसार सामान्य विशेष स्पष्टता है, जैनाचार्य कहते हैं, यह तो हम भी मानते हैं, विशुद्धिविशेष को ही उस प्रत्यक्ष के सदृश होने से सामान्य विशेषत्व होने के कारण। नित्य निरवयवरूप सामान्य विशेष का निराकरण किया गया है। पुनः विपक्षी कहते हैं कि यह कैसे जाना गया कि स्पष्ट ही प्रत्यक्ष है? जैनाचार्य कहते हैं कि एक सिर और दो भुजाओं वाला भनुष्ठ है यह कैसे जाना गया? यदि यह कहते हो कि ऐसा प्रत्यक्ष से देखा जाने से तो फिर प्रत्यक्ष के स्पष्टत्व में भी स्वानुभव से उसी प्रकार देखा जाने से दोनों का समाप्त समाधान है ॥ ३५ ॥

सम्यग्ज्ञानस्य^४ व्यवसायात्मकत्वे प्रत्यक्षस्यापि दमेदस्य तदात्मकत्वेन भवितव्यं, न च तस्य तदस्ति तेनाभिलापसंबद्धतया^५ स्वविषयस्याग्रहणात् तथा तदग्रहणस्यैव^६ व्यवसायत्वादिति चेत्, नैव^७, व्यवसायस्यैवाभावप्रसंगात्। अभिलापेन हि तदगतेनैव विषयस्य संबन्धस्तत्र तदभावात्। स्मरणोपनीतेन संकेतकाल प्रतिपन्नेनेति चेन्न। स्मरणस्य^८ निर्विकल्पकत्वे तद्विषयस्य स्वलक्षणत्वेन क्वचिद्दुपनयनानुपपत्तेः। व्यवसायरूपत्वे च तेनापि स्वविषयस्याभिलापसंबद्धस्यैव

^४ यीगमतं सामान्यविशेषेऽर्थात्परसामान्यं।

^५ जैन ग्रन्थ।

^६ अवगतमिति केषः।

^७ बीद्धो वदति।

^८ अभिलापसंबद्धस्य रथविषयस्यैत्यर्थः।

^९ “विकल्पो नाम संनितः” इति वचनात्वाभिलापविशेषेणा एव निश्चयैर्निश्चीयते इत्यन्युपगमात्।

^{१०} अभिलापसंबद्धस्यविषयग्रहणस्य व्यवसायत्वे।

^{११} अनन्यदेशकालाकारत्वेन।

स्मरणं तथापिलोपस्यादि ॥ तथाविषयस्येव ॥ तत्समरणेनेत्यनवरिथतिप्रसंगात्
 स्मरणस्य तदनभिरसंबद्धवस्तुवेदित्येपि व्यवसायस्वभावत्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्किं न
 स्यात्? अभिलापसंबन्धवैकल्ये कुतस्तस्यस्यव्यवसाय इति चेत् अभिलापस्मरण-
 स्यापि कुत्? शब्दसामान्यस्य तत्संबन्धयोग्यस्य तेन ग्रहणादिति चेत् प्रत्यक्षेऽपि
 तत् ॥ एव सोऽस्तु तेनाऽपिसामान्यस्य वस्तुषु सदृशपरिणामस्य परिच्छेदात् ।
 अन्यथा^१ शुक्तिकादौ रजताद्यपेक्षया साधम्यदर्शनस्याभावात् कथं तत्रिबन्धनसतत्र
 लघ्याद्यारोपः । यत इदं सूक्तं भवेत् “शुक्तौ वा रजताकारो लघ्यसाधम्यदर्शना-
 दिति” । न च साधम्यादपरं सामान्यमपि तस्य नित्यव्यापिस्वभावस्य व्यवधिदय-
 प्रतिवेदनात् । तद्विषयत्वेऽपि परामर्शवैकल्यादव्यवसायमेव प्रत्यक्षभिति चेत्र ।
 नीलमिदं पतिभिदं इति तत्र परामर्शस्य प्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादन्य एव सः परामर्श
 इति चेत्र^२ स्पष्टत्वेन प्रतिभासनात् स्पष्टत्वमपि तत्र प्रत्यक्षप्रत्यासत्तेऽन्य-
 रोपितमेव न वास्तवभिति चेत् प्रत्यक्षस्य चैतन्यमप्यर्थान्तरवेतन-
 संसर्गादध्यारोपितमेव न वास्तवभिति किं न स्यात्? यतः सांख्य^३ मतस्यानभ्यु-
 पगमः प्रत्यक्षादिज्ञानव्यतिरेकेण चेतनस्याप्रतिपत्तेरिति चेत् । न । परामर्शव्यतिरेकेण
 प्रत्यक्षस्याप्रतीतेः ॥ ३६ ॥

बौद्ध कहते हैं कि सम्बद्धान के व्यवसायात्मक होने पर प्रत्यक्ष को भी जो सम्बद्धान का ही भेद है, व्यवसायात्मक ही होना चाहिये किंतु वह व्यवसायात्मक नहीं है, उसके द्वारा अभिलाप संबद्ध अभिधेय का प्रतिपादन करने संबंधी अपने विषय को ग्रहण नहीं करने से । अभिलाप “बौद्ध स्वविषय को ग्रहण करना ही व्यवसाय है । आचार्य कहते हैं कि अभिलाप संबद्ध स्वविषय को ग्रहण करने को ही व्यवसाय मानने पर व्यवसाय के ही अभाव का प्रसंग आ जायगा । अभिलाप का उसी के अन्तर्गत होनेयाले विषय से संबंध है, वहाँ व्यवसाय का अभाव है । स्मरण के द्वारा संकेताकाल की प्राप्ति वहाँ व्यवसायात्मकता ही जायगी, यह कहना भी ठीक नहीं है स्मरण के निर्विकरण होने पर अभिलाप के विषय को स्वलक्षण के रूप में ग्रहण नहीं किये जाने से व्यवसाय रूप होने पर उसके द्वारा भी अभिलाप संबद्ध ही स्वविषय को स्मरण किया जाना चाहिये उस अभिलाप को भी उसी प्रकार के स्मरण के द्वारा इस प्रकार अनवस्था का प्रसंग आयेगा । स्मरण को अभिलाप से असंबद्ध वस्तु को जानने पर भी व्यवसाय स्वभाव वाला भावने पर प्रत्यक्ष को भी व्यवसाय रूपता क्यों नहीं हो जायेगी? अभिलाप संबंध होने पर उसका व्यवसाय किससे जाना जायगा तो अभिलाप स्मरण का भी किससे जाना जायेगा । अभिलाप स्मरण के द्वारा शब्द सामान्य से संबद्ध योग्य विषय को ग्रहण करने से जाना जायगा तो प्रत्यक्ष में भी वस्तुसंबद्ध सामान्य को ग्रहण करने से ही जाना जायगा, प्रत्यक्ष के द्वारा भी वस्तुओं में सदृश रूप सामान्य का ज्ञान होने से । यदि सदृश परिणाम को असामान्य कहते हो तो शुक्तिका आदि में रजतादि की अपेक्षा साधम्यदर्शन का अभाव होने से साधम्य के कारण शुक्तिका में रजत का आरोप कैसे हो सकता है? जिससे कि यह कहा जाता है “शुक्तौ वा रजताकारो लघ्य

^१ वस्तुसंबद्धसामान्यग्रहणादेव । सदृशपरिणामस्यास्यान्यत्वे ।

^२ कल्पतः इति शोषः ।

^३ जैनः ।

^४ चेतनसंसर्गाच्छेतना बुद्धिरित्यस्य ।

साधम्यदर्शनात्” साधम्यसे भिन्न तो कोई सामान्य है नहीं, नित्य व्यापी स्वभाव वाले सामान्य का कहीं वेदन नहीं होने से प्रदृश परिणाम वाले सामान्य को जानने पर भी पशमर्श रहित होने के कारण प्रत्यक्ष अव्यवसायात्मक ही है, यह कहाँ उचित नहीं है, यह नीला है, यह पीला है, इस प्रकार का प्रत्यक्ष में पशमर्श की प्रतिपत्ति होने से यह पशमर्श प्रत्यक्ष से अन्य पीला है ऐसा नहीं कह सकते स्पष्ट रूप से प्रतिभास होने के कारण स्पष्टता भी वहाँ प्रत्यक्ष की निकटता के कारण आरोपित ही है वास्तविक नहीं यदि यह कहते हो तो प्रत्यक्ष की चेतनता भी दूसरे चेतन के संसर्ग से आरोपित ही है वास्तविक नहीं, यह क्यों नहीं हो जायेगा? जिससे सांख्यमत का निश्चकरण हो कि चेतन की प्रतिपत्ति नहीं होने से यह कहना भी हीक नहीं है पशमर्श से भिन्न प्रत्यक्ष की प्रतिपत्ति नहीं होने से । ३६ ॥

'विकल्पप्रतिसंहारवेलाया^२' तथैव तस्य प्रतिपत्तिरिति चेत् । न । सकलचित्तवृत्तिविकलवेलायां चेतनस्य तथैवानुभवात्, अत एव एवोर्ते^३ "तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान" भिति श्रूयत एव केवलं तादृशी वेला न कदाचिदप्युपलम्यत, इति समानमितरवेलायामपि ततो यथा^४ प्रत्यक्षादेरन्यन्ते^५ चेतनमनन्ध्यवसिते^६ । तथा तत एव न परामशादन्यत्प्रत्यक्षमपि । अत एव परामशात्मकत्वं स्पाष्ट्यमेव मानसप्रत्यक्षस्य प्रतिपादितमलड्कारे ॥ 137 ॥

बौद्ध कहते हैं संपूर्ण विकल्पों का प्रतिसंहार होने के समय परामर्श रहित ही प्रत्यक्ष की प्रतिपत्ति होती है, यह कहना ठीक नहीं है, संपूर्ण चित्तवृत्तियों से रहित अवस्था में चेतन के परामर्शात्मक ही अनुभव होने से। इसलिए सांख्यों के द्वारा कहा है कि उस समय दृष्टि का अपने स्वरूप में अवस्थान हो जाता है (तदा दृष्टुः स्वरूपेवस्थान)। बौद्ध कहते हैं ऐसी अवस्था केवल सुनी जाती है, कहीं देखी नहीं जाती अतः अन्यसमय में भी समान ही है। अतः जैसे प्रत्यक्षादि से भिन्न चेतन नहीं है, उसी प्रकार उसी से परामर्श से समान ही है। अतः अलंकार में परामर्शात्मक रूपस्ता ही मानस प्रत्यक्ष के लिए भिन्न प्रत्यक्ष भी नहीं है। अतः अलंकार में परामर्शात्मक रूपस्ता ही मानस प्रत्यक्ष के लिए बताया गया है। ॥३७॥

इदमित्यादि यज्ञानमभ्यासात्पुरतः स्थिते ।
साक्षात्करणतस्तत्र प्रत्यक्षं मानसं भवतम् । इति

‘सामने स्थित वरस्तु में इदं (यह) इत्यादि जो ज्ञान अभ्यास से होता है, उसका साक्षात् करने के कारण उसे मानस प्रत्यक्ष कहा गया है।

¹ चौको थदति ।

² संक्षिप्त सर्वत्रिकां स्तिथितेनांशस्तमना रिष्टलोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षत् साऽधीजा मात् (१०)

³ सांख्यिकीय दैषः ।

४ यथा शब्देन दर्षात् परामृशयते ।

५ अप्र०

३८५

^७ द्रव्यतनीति शेषः ।

कथौ^१ पुनर्व्यवसायात्मकत्वे प्रत्यक्षस्याश्वं विकल्पयतो गोदर्शनं व्यवसायेन
शां पश्यतस्तत्र^२ तदन्यारोपस्यासंभवात्।^३ निश्चयारोपमनसोर्बाध्यबाधकभावादिति
चेत्। तदा^४ दर्शनेनात्म्वसाधर्म्यस्यैव गवि व्यवसायात्मत्र यारोपस्यानुपपत्तेविश्वे—
याकर्त्तरै^५ तस्यारोपो न च तस्य व्यवसायः। कुतस्तहि तत्र तदारोप इति चेत्
साधर्म्यनिर्णयादेव तस्य तदनुकूलतया प्रतीतेः। भवतस्तु^६ दुपरिहर एवाय
पर्यनुयोगः। ||38||

बौद्ध कहते हैं—प्रत्यक्ष के व्यवसायात्मक होने पर घोड़े का विकल्प करते हुए
गोदर्शन कैसे होता है। व्यवसाय (निश्चय) से गाय को देखते हुए गाय में अश्व का आरोप
असमय होने से, निश्चय ज्ञान और आरोपित ज्ञान में बाध्य बाधक भाव होने से यह कहना
ठीक नहीं है। उस समय गाय को देखने से अश्व साधर्म्य का ही गाय में निश्चय होने से,
वहाँ आरोप के नहीं होने से (पिशेषाकार) खंडमुंडाकार में उसका आरोप है, उसका निर्णय
नहीं है। किस कारण गाय में अश्व का आरोप है यदि यह कहो तो साधर्म्य का निर्णय होने
से गाय के अश्व समान प्रतीत होने से। बौद्ध कहते हैं कि तुम्हारा यह कथन भी समीचीन
नहीं है। ||38||

मानसप्रत्यक्षेण नीलादिवत् क्षणाभ्यगादेवपि^७ निर्णये कर्त्त
तत्राक्षणिकत्वाद्यारोपो यतस्तदव्यवच्छेदार्थमनुमानपरिकल्पनमिति न च तस्य
तेनानिर्णयो नीलादावपि तत्प्रसंगात्। असकलप्रतिपत्तेरनभ्युपगमात्। ||39||

मानस प्रत्यक्ष से नीलादि के समान स्वर्गप्राप्ति आदि का भी निर्णय होने पर वहाँ
अक्षणिकत्व आदि का आरोप क्यों किया गया, जिससे उसका निशकरण करने के लिए^८
“सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्” इस अनुमान की कल्पना की गयी? मानस प्रत्यक्ष से स्वर्गप्राप्ति आदि
का अनिर्णय नहीं है नीलादि में भी उसका प्रसंग आने से, बौद्धों के यहाँ वस्तुको निर्णय
मानने से असकल प्रतिपत्ति नहीं मानी गयी है। ||39||

न चास्माकं परामर्शभावेन प्रसित^९, मनोव्यवसायस्य विनापि
तेनाव्युत्पत्त्यादिविरोधरूपतयैवोपपत्तैः। अतद्वृपस्य तु न प्रामाण्यं अविसंवाद—
वैकल्प्यात्। तथाहि यदविसंवादविकलं न तत्प्रमाणं, यथा अज्ञस्य विषदर्शनं,

^१ बौद्धो ददति।

^२ गवि अश्वोउयमित्याद्यारोपस्य।

^३ निश्चयङ्गानारोपङ्गानयोः।

^४ गोरिति शेषः।

^५ खंडमुंडाकारै।

^६ बौद्धस्य मानसे प्रत्यक्षं व्यवसायात्मकमिति सीमतमतम्।

^७ स्वर्गप्रापणादि।

^८ सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्यादि।

^९ तस्माददृष्टस्य भावस्य धृष्ट एवाखिलो युणः ग्रातेनिश्चयते नेति सञ्चनं संप्रवर्तते। इति बौद्धवस्तुनो
निरंशत्वाभ्युपगमात्।

^{१०} नित्यप्रसंगं संबद्धमित्यर्थः।

तद्विकलं च सौगतपरिकल्पितं दर्शनमविसंवादो हि इत्थं गेयमित्य
 चित्रं मित्यभिसन्धिकरणमेवा— ‘भिग्रायनिवेदनादविसंवादन’—भिति बचनात् न च
 तत्त्विवेदनमव्यवसायस्य, अज्ञाविषदर्शनस्यापि तत्प्रसंगात् अव्यवसायस्यापि^१ दर्शनस्य
 व्यवसायजननात्तत्त्विवेदनमिति चेत्र। अव्यवसायाद् व्यवसायस्य गर्दभाद् व्यवसाय—
 नुपपत्ते। व्यवसायदासनोन्मीलै नेनाव्यवसायस्यापि व्यवसायहेतुत्वे दर्शनस्येति
 चेत्र। तद्वदर्थस्यैव तद्वेतुत्यप्रसंगेन अन्तर्गुनो^२ दर्शनस्याकल्पनापत्ते। ‘व्यवसाय—
 हेतुत्वेन चाविसंवादित्वमौपचारिकमेव दर्शनस्य स्यात्। मुख्यतः सनिपत्याभिप्राय
 निवेदनेन व्यवसायस्यैव तदुपपत्ते। न च ततस्तस्य प्रामाण्यं। ‘सत्रिकर्षदावपि
 ततप्रसङ्गात्। ततो युक्तमविसंवादवैकल्यादर्शनमप्रमाणमिति तदुक्तम्। ॥४०॥

हमारे यहाँ परामर्श भाव नित्यप्रसंक्त नहीं है, परामर्श के बिना भी मनोव्यवसाय की
 अव्युत्पत्ति आदि के विरोधी रूप में ही होने से अव्युत्पत्ति आदि के अविरोधी होने पर
 उसको प्रमाणता नहीं है, अविसंवाद विकल होने के कारण कहा भी है— जो अविसंवाद से
 रहित है वह प्रमाण नहीं है जैसे अज्ञानी का विषदर्शन सौभग्यों द्वारा कल्पित दर्शन
 अविसंवाद रहित है। ‘इस प्रकार गाना चाहिये, इस प्रकार चित्र बनाना चाहिये, इस प्रकार
 का अभिप्राय निवेदन नहीं है’ ऐसा बचन होने से। अव्यवसाय का अभिप्राय निवेदन नहीं है
 अन्यथा अज्ञानी के विषदर्शन को भी अभिप्राय निवेदन का प्रसंग आयेगा। व्यवसायरहित
 दर्शन भी व्यवसाय को उत्पन्न करने के कारण अभिप्राय निवेदन करता है, यह नहीं रह
 सकते। जैसे घंटे से घोड़े की उत्पत्ति नहीं हो सकती। व्यवसाय की वासना को प्रकट करने
 के कारण अव्यवसायलूप दर्शन व्यवसाय का कारण है, यह कहना भी ठीक नहीं है। इस
 प्रकार तो दर्शन के समान अर्थ को ही व्यवसाय के हेतु का प्रसंग आने से दर्शन की
 कल्पना निरर्थक ही हो जायगी। फिर व्यवसाय का कारण होने से दर्शन को अविसंवादी
 औपचारिक ही होगी, मुख्यतः अभिप्राय निवेदन करने के कारण व्यवसाय को ही
 अविसंवादित्व होगा। औपचारिकरूप से अविसंवादिता होने से दर्शन को प्रमाणता नहीं हो
 सकती। यदि औपचारिक रूप से अविसंवादित्व के कारण दर्शन को प्रमाण माना जाएगा तो
 सन्धिकर्ष आदि में भी प्रमाणता का प्रसंग आयेगा। ॥४०॥

विषदर्शनवत् सर्वमज्जस्या॑ कल्पनात्मकम्।
 दर्शनं न प्रमाणं स्यादविसंवादहानितः।।।।। इति

अतः ठीक ही कहा है कि अविसंवाद रहित होने के कारण दर्शन अप्रमाण है। किंतु
 भी है—

^१ अभिप्रायकरणमेव।

^२ वसः, दर्शनस्येत्यर्थ।

^३ प्राकट्येन।

^४ निरर्थकरूप।

^५ अव्यवधानेन।

^६ अन्यथेति शब्द।

^७ अव्यवसायात्मकम्।

अज्ञानी के विष दर्शन के समान अविस्वाद रहित होने के कारण अव्यावसायिक दर्शन प्रभाव नहीं है।

ग्रामाण्ड्याभावे च दूरतः प्रत्यक्षत्वं, तस्य लघुशेषत्वेन तदभावेऽनुपपत्तेऽरतः
प्रत्यक्षाभासं तदिति प्रतिपत्तव्यं ॥ 141 ॥

प्रभाणता नहीं होने पर प्रत्यक्षता तो दूर ही है। दर्शन को प्रभाणता के अभाव में द्वारा लिखे गए प्रत्यक्षत्व नहीं होने से वह प्रत्यक्षाभास है, यह जानना चाहिये ॥ 141 ॥

भवतु तर्हीन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षः प्रत्यक्षं, वस्तुसाक्षात्करणस्य सर्वत्र तत् एव
एव भावादिति चेत्र । तस्याचेतनतया वस्तुप्रभितौ साधकतमत्वानुपपत्त्या
प्रामाण्यस्यैव प्रतिक्षेपात् । न च तत् एव साक्षात्करणं विषयस्य, तदभावेषि चक्षुषा
षटस्य तत्प्रतिपत्तेः । अस्त्येव चक्षुषस्तद्विषयेण सन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्य तत्रासत्वेऽप्यनु
भावनतस्वदवगमात् । तच्चेदमनुभावं चक्षुः सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयति बाह्येन्द्रियत्वात्—
गादिवत् । इतिचेत्, अत्र न लावदगोलकमेव चक्षुस्तद्विषयसन्निकर्षप्रतिज्ञानस्य
प्रत्यक्षेण बाधनात्तेन तत्र तदभावस्यैव प्रतिपत्तेहेतोश्च तद्बाधितकर्मनिर्देशानन्तरं
प्रयुक्ततया कालात्ययापदिष्टतोपनिपातात् । तन्मात्रं चक्षुस्तद्विषयकलापस्य
तत्प्रत्यक्षस्य च रश्मिपरीतं चक्षुस्तैजसत्वात् प्रदीपवदित्यतस्तैजसत्वस्यापि तैजसं
चक्षुः रूपादीनां भद्रे रूपस्यैव प्रकाशकत्वात्तद्वित्यनुभावन्तोऽवगमादिति चेत् किं
युनत्र चक्षुर्यत्र तैजसत्वं साध्यं? न गोलकमेव लस्यरूपप्रकाशकत्वासिद्धे,
रश्मिपरिकल्पनावैफल्प्यप्रसंगात् रश्मिपरिकरितमिति चेत्र, तस्याद्याप्यसिद्धत्वेन
रूपादीनामित्यादेहेतोराश्रयासिद्धदोषात् । व्यभिचारी चायं हेतुः—स्वच्छजलेन तस्य
तदन्तर्गतरूपमात्रप्रकाशत्वेऽपि तैजसत्वाद्रश्मिवत्वं चक्षुः ॥ 142 ॥

तब इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष प्रत्यक्ष है, सब जगह वस्तु का साक्षात्करण
सन्निकर्ष से ही होने से आवार्य कहते हैं यह कथन समीक्षीय नहीं है। इन्द्रिय के अचेतन
होने के कारण वस्तु की प्रभिति में साधकतम नहीं होने से उसकी प्रभाणता का ही
निराकरण किया जाने से। इन्द्रिय सन्निकर्ष से ही विषय का साक्षात्कार नहीं होता, सन्निकर्ष
के अभाव में भी चक्षु के द्वारा पट की प्रतिपत्ति होने से। यदि यह कहे कि चक्षु का उसके
विषय के साथ सन्निकर्ष होता ही है, प्रत्यक्ष से सन्निकर्ष का ज्ञान न होने पर भी अनुमान
से उसको जाना जाने से। यह अनुमान भी है—चक्षु सन्निकृष्टअर्थ को प्रकाशित करता है,
बाह्येन्द्रिय होने के कारण स्पर्शन आदि इन्द्रियों के समान तो चक्षु क्या है? गोलक को तो
चक्षु कह नहीं सकते उसका विषय के साथ सन्निकर्ष होता है इस प्रतिज्ञा की प्रत्यक्ष से
बाधा होने से, प्रत्यक्ष से अर्थ के साथ उसके सन्निकर्ष के अभाव की ही प्रतिपत्ति होने
से। प्रत्यक्ष से सन्निकर्ष के अभाव का प्रतिपादन करने के बाद प्रयुक्त होने के कारण हेतु को

¹ तस्य विषयेण सह सन्निकर्षप्रसिद्धानस्य, चक्षुः सन्निकृष्टमर्थं प्रकाशयतीति प्रतिज्ञाया इत्यर्थः ।

² विषयकथनपश्चात् ।

³ अतोऽनुभावात् ।

⁴ तदसिद्धौ तैजसत्वासिद्धौ, तदसिद्धौ च रश्मिपरिकल्पत्वस्यासिद्धि ।

⁵ चक्षु ।

कालात्यापदिष्टता का प्रसंग आला है। यदि यह कहो कि गोलक मात्र चक्षु नहीं है, चक्षु वा रशिम रामूह को चक्षु होने से अनुमान भी है 'रशिमपरीतं चक्षुसौजसत्यात् प्रदीपथत्' तैजसत्य के लिए भी अनुमान है— तैजसं चक्षु रूपादीमां मध्ये रूपस्थैव प्रकाशकत्यात्तद्वत्। इस अनुमान से ज्ञात होने से तो यह बताओ कि चक्षु क्या है? जिसमें तैजसत्य को सिद्ध करना है— गोलक तो है वहीं गोलक के रूप प्रकाशकत्य की असिद्धि होने से, रशिम की कल्पना को भी विफल होने का प्रसंग होने से रशिम से युक्त चक्षु चक्षु है यह कहना भी ठीक नहीं है। उसके अभी तक सिद्ध नहीं होने से रूपादीमां मध्ये इत्यादि हेतु को आश्रयासिद्ध का दोष होने से। यह हेतु व्यभिचारी भी है। स्वच्छ जल से चक्षु के जल के अन्तर्गत रूप मात्र का प्रकाशक होने पर भी तैजसत्य का अभाव होने से तैजसत्य के कारण चक्षु को रशिमत्व नहीं सिद्ध होता। ॥42॥

अरशिमवता^१ कुतो न तेन व्यवहितस्यापि ग्रहणमप्राप्तो रविशेषात्? रशिमवतापि^२ कुतो न स्वसन्निकृष्टस्यांजनादेऽरंजनशलाकादेः प्रदीपादिनैव ग्रहण प्राप्तो रभेदात्? तथा स्वामाव्यात्, इति समानमन्यत्रापि समाधानम्। ततो गोलकमेव केवलं चक्षुर्न च तस्य विषयसंनिकर्ष इति सिद्धम् विनापि तेन तद्विषयस्य साक्षात्करणं। तथा सुखादेशपि। तद्वदेनमपि संनिकर्षजमेव वेदनत्वात् घटादिवेदनवत्। सन्निकर्षोऽपि तत्र संयुक्तसमवायो मनः संयुक्ते आत्मनि सुखादेसमवायादिति चेत्र। दृष्टान्तस्य साध्यवैकल्प्यात्तत्र सन्निकर्षभावस्य निरूपितत्वात्। ॥43॥

बौद्ध कहते हैं अरशिमवान चक्षु के द्वारा अवृत वस्तु का भी ग्रहण कर्यों नहीं होता अप्राप्ति के समान रूप से होने से। आचार्य कहते हैं कि यदि रशिमयुक्त चक्षु है तो वह आगे से सन्निकृष्ट अंजन तथा अंजनशलाका आदि को क्यों नहीं जागता। प्रदीपादि के समान दोनों में प्राप्ति का कोई भेद नहीं होने से। यदि यह कहो कि उसका ऐसा ही रक्खाव होने के कारण तो यह समाधान तो अन्यत्र भी समान रूप से ही है। अतः गोलक ही चक्षु है और उसका विषय के साथ सम्निकर्ष नहीं होता। अतः सिद्ध है कि इन्द्रिय का विषय के साथ सम्निकर्ष हुए बिना भी विषय का साक्षात्कार होता है। इसी प्रकार सुखादि का भी विषय कहते हैं कि सुखादि का वेदन भी सम्निकर्ष से ही होता है। वेदन होने के कारण घटादि के समान। सुखादि के वेदन में संयुक्त समवाय सम्निकर्ष है मन आत्मा से संयुक्त है और आत्मा में सुखादि का समवाय है। आचार्य कहते हैं— यह कहना उचित नहीं है 'घटादिवद्' यह दृष्टान्त साध्यविकल है। घटादि के वेदन में सम्निकर्ष के अभाव का निरूपण किया जाने से। ॥43॥

अपि च यदि तद्वेदनादनर्थान्तरं सुखादिर्न तर्हि तेन मनसः सम्निकर्षं ततः पूर्वं तस्यैवाभावात्। वेदनसमये भावेऽपि व्यर्थस्तत्सम्निकर्षस्तस्य

^१ यौगो वदति।

^२ सिद्धान्ती प्राह।

^३ प्रदीपादिकञ्जलरेखादे।

^४ यथा घटादौ प्राप्तिस्तथाऽजनादावपीति प्राप्त्यगेद।

वेदनार्थत्वात्^१। तस्य च ततः प्रामेवोत्पत्ते:। अर्थान्तरमेव ततः सुखादिरतः प्राप्तिपि
 तस्य भाव इति चेत्, स यद्यनुभवरहितस्यैव सकलतत्पूर्वसमयेऽपि भावःइति न
 २चन्दनदहनादेस्तस्योत्पत्तिः शक्यावबलृप्तिः^३। अनुभवसहितस्यैवेति चेत्त तर्हि
 तस्मादिन्द्रियसंनिकृष्टादुत्पत्तिस्तद्वेदनस्य समसमयभावित्वात्। अनुभवविरुद्धं च
 सुखादेस्तद्वेदनादर्थान्तरत्वं स्वसंवेदनरूपस्यैव तस्यानुभवात्। कथै^४ तर्हि
 तद्वेदनस्य प्रामाण्यमात्मवेदनभावस्य तदनभ्युपगमात्^५ (“अर्थात्भवेदनं न्यायं प्राहु”
 रित्युक्तत्वादिति चेत्त। अनुग्रहपीडादिरूपेण तस्य तद्वेदनात्कथंचिदर्थान्तरस्यापि
 भावादैकान्तिकस्यैव ... तदत्तद्वेदनस्य लक्षणं लक्षणं लक्षणं लक्षणं लक्षणं लक्षणं
 प्रत्याख्यानादित्युपपन्नमध्यापकत्वं संनिकर्षस्य। तदभावे घटादौ सुखादौ च
 प्रत्यक्षस्योक्तयोपपत्त्या व्यवस्थापनात्। यदि च संनिकर्षस्य प्रत्यक्षत्वं तर्हि चक्षुषा
 रूपदद्रसादेशपि ग्रहणप्रसंगस्तस्य तत्रैवेत्ररत्रापि संयुक्तसमवायेन संनिकर्षात्,
 तद्विशेषस्याभावात् नो चेत्स्यैव तर्हि प्रत्यक्षत्वं सति
 तस्मिन्विषयसंवित्तेनियमात् न संनिकर्षस्य विपर्ययादित्युपपन्नं तत्त्वाणां तत्त्वं
 प्रत्यक्षस्य। | 44 || 1

और यदि सुखादि के वेदन से सुखादि अभिन्न हैं तो उसका मन से संनिकर्ष
 नहीं होगा। वेदन से पूर्व सुखादि का ही अभाव होने से वेदन के समय सुखादि के होने पर
 भी उसका संनिकर्ष व्यर्थ ही होगा उसके वेदन को उत्पन्न करने वाला होने से, वेदन से
 पूर्व ही उसकी उत्पत्ति होने से वेदन से सुखादि भिन्न ही हैं, अतः वेदन से पूर्व भी वह
 रहता है यदि यह कहते हो तो यदि अनुभव रहित के भी संपूर्णपूर्व समय में भी वह रहता
 है तो फिर चंद्रम से सुख की और अग्नि से दुःख की उत्पत्ति की कल्पना नहीं की जा
 सकती। यदि अनुभव सहित को ही पहले से सुखादि होता है तो फिर इन्द्रिय संनिकर्ष से
 उसकी उत्पत्ति भी होगी सुखादि और सुखादि के वेदन को अभसमय वाला होने
 से सुखादि का सुखादि के वेदन से भिन्न होना अनुभवविरुद्ध भी है, सुखादि को स्वसंवेदन
 रूप ही अनुभव किया जाने से अन्यभाव वाले कहते हैं फिर उस ज्ञान को प्रमाण कैसे माना
 जा सकता है? क्योंकि जैनों के द्वारा केवल रूप को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण नहीं माना
 गया है। उनके द्वारा “अर्थात्भवेदनं न्यायंप्राहु” ऐसा कहा गया है। आचार्य कहते हैं—यह
 कहना भी ठीक नहीं है। अनुग्रह, पीड़ा आदि के रूप में सुखादि को उसके वेदन से
 कथंचित् भिन्न भी माना गया है, एकांत रूप से ही वेदन से सुखादि की भिन्नता का इस
 प्रकार के अनुभव का अभाव होने से निराकरण किया गया है। अतः संनिकर्ष की
 अद्यापकता सिद्ध हुई। संनिकर्ष के अभाव में घटादि में तथा सुखादि में भी प्रत्यक्ष की
 ऊपर कहे अनुसार व्यवरथापना होने से। यदि संनिकर्ष को प्रत्यक्ष मानते हो तो चक्षु से रूप
 के समान रसादि के भी ग्रहण का प्रसंग आयेगा। चक्षु का रूप के समान रसादि में भी

¹ उत्पादकत्वात्!

² इहसमात् कार्यः अदनात्सुखस्य वहनात्—अग्ने दुःखस्य।

³ शक्या कल्पना।

⁴ अन्यः प्राह।

⁵ जैनै।

⁶ प्रमाणम्।

⁷ एकांतेन निष्ठमेन भवति तर्याकातिकर्य।

संयुक्त समवाय सन्निकर्ष होने से, कोई विशेषता नहीं होने से। यदि चक्र से रसादि का ग्रहण नहीं होता तो अन्तर्मेल विश्लेष से होने थाली विशुद्धिविशेष रूपी स्पष्टता को ही प्रत्यक्षत्व सिद्ध होता है उसके होने पर ही विषय के ज्ञान का नियम होने से सन्निकर्ष प्रत्यक्ष नहीं है विपरीय होने से। अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं है। ॥44॥

यत्पुनर्मीमांसकस्य मतं 'इन्द्रियविषयसंप्रौद्योगादुत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षं' इति तदपि न यत्कम्। संप्रयोगस्य सन्निकर्षार्थत्वे नैयायिकवद्वोषात्। यदि चेन्द्रिय-सञ्चिकर्षात्तदवाच्छिङ्ग एवात्मप्रदेशं ज्ञानं ताहुं तदपेक्षां पर्वतादेः प्रत्यासन्न-त्वात्तत्रकिमपेक्ष्य दूरादिप्रतिपत्तिः। गोलकाधिष्ठानं शरीरमपेक्ष्येति चेत्, तस्यां सञ्चिकृष्टतया तच्छां नेनाग्रहणात्। नद्यागृहीते तस्मिस्ततोऽयमतिदूर इति भवति प्रतीतिः । अन्तरेणापि सन्निकर्षं तस्य ग्रहणे पर्वतादेरपि स्यादिति न युक्तं तत्र तत्कल्पनं गोलकाधिष्ठानं एवात्मप्रदेशं ततस्तांज्ञानमिति चेत्कथमिन्द्रिया-ग्रवर्तिनस्तस्मात्मूलगते तत्र विषयं ज्ञानमिन्द्रियान्तरेष्वमदर्शनात्^१। तत्रादृच्छस्यापि चक्रुष्टिकल्पनायां वरमप्राप्यकारित्वमेव कल्पितमप्राप्यकारिण एव गोलकस्य प्रतीतेः ॥45॥

मीमांसक का यह कथन कि इन्द्रियों का अर्थ में व्यापार होता है उससे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, यह भी ठीक नहीं है। इन्द्रियव्यापार का अर्थ के साथ सन्निकर्ष मानने पर भी सन्निकर्ष के समान ही दोष होने से यदि इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने से उससे भिन्न आत्मप्रदेश में ही ज्ञान होता है तो आत्मा के सर्वव्यापी होने के कारण उसकी अपेक्षा पर्वत आदि के निकट होने से किस अपेक्षा से पर्वतादि के दूरादि का ज्ञान होता है गोलक से युक्त शरीर की अपेक्षा से यह नहीं कह सकते, उसके सन्निकृष्ट नहीं होने के कारण सन्निकर्ष ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं होने से उसके सकते, उसके सन्निकृष्ट नहीं होने के कारण सन्निकर्ष ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं होने से उसके अपेक्षा से पर्वतादि का ग्रहण होने पर भी ग्रहण हो जायगा, अतः वहां सन्निकर्ष की कल्पना विषय का ग्रहण होने पर पर्वतादि का भी ग्रहण हो जायगा, अतः वहां सन्निकर्ष की कल्पना करना ठीक नहीं है। गोलक में स्थित आत्मप्रदेश में ही इन्द्रिय व्यापार से विषय का ज्ञान होता है, यदि यह कहो तो इन्द्रिय के अग्रभाग में रहने थाले गोलक से उसके अंदर रहनेवाले आत्मप्रदेश में विषय का ज्ञान कैसे होगा? दूसरी इन्द्रियों में ऐसा नहीं देखा जाता। दूसरी इन्द्रियों में ऐसा न देखे जाने पर भी चक्र में उसकी कल्पना करने की अपेक्षा उसको अप्राप्यकारित्व की कल्पना ही ठीक है, गोलक के अप्राप्यकारी होने की ही प्रतीति होने से ॥45॥

¹ इन्द्रियाणामर्थं व्यापारं, तत्त्वगुणतथाऽकस्थानं, कार्यात्मसेया शक्तिर्वासंप्रयोगः।

² आत्मनः सर्वगतत्वत् ।

³ सन्निकर्षाभावेन ।

⁴ सञ्चिकर्षज्ञानेन ।

⁵ विनेत्यर्थः ।

⁶ विषयज्ञानं ।

⁷ अर्थज्ञानं ।

⁸ अनुपलब्धेः ।

⁹ अनुपलब्धस्यापि विषयज्ञानस्य ।

न च गोलकं चक्षुस्तदशिमप्रसरस्य तत्त्वादिति चेत् कथं तहि चक्षुरर्थस्य^१
चिकित्साविधेगोलके करणमन्यार्थस्थान्यत्र तदनुपपत्तेः। चक्षुरर्थस्य पादे
कथमभ्यङ्गस्य करणमिति चेत्, पादाभ्यरक्तस्य स्नेहस्य तत्रांडीरक्षद्वारेण चक्षुरवाप्तस्य
तदुपकारित्वात्। न थैव गोलकाभ्यत्स्थानादेस्तद्विर्गतरशिम
प्रसरावाप्तिस्तदनुपलंभात्। न च शक्योपलंभस्थानुपलक्षिर्ल्लरेणाभावं संभवति, तत्र
संप्रयोगस्य संनिकर्षार्थत्वम् ॥ 46 ॥

गोलक चक्षु नहीं है, उसकी किरणों के चक्षु होने से यदि ऐसा कहते हो तो फिर चक्षु
के लिए की जानेवाले चिकित्सा में गोलक में क्यों चिकित्सा की जाती है? अन्य के प्रयोजन से की
जानेवाली चिकित्सा अन्यत्र नहीं की जाती। औंखों के लिए पैर में मालिश क्यों की जाती है? यह
कहना भी ठीक नहीं है। पैर में मालिश किये जानेवाले तेल के उसकी नाड़ी के छिद्रों द्वारा चक्षु में
पहुँचने से उसके चक्षु के लिए उपकारी होने से इस प्रकार गोलक में लगाये जाने वाले अंजन
आदि की उसके बाहर रहने वाले किरणों को प्राप्ति नहीं होती है। ऐसा उपलब्ध नहीं होने से जहाँ
उपलक्षि संभव है वहाँ उसका अभाव हुए बिना अनुपलक्षि नहीं होती। अतः इन्द्रिय व्यापार का अर्थ
से संबंध नहीं होता ॥ 46 ॥

अनुकूलमर्थत्वमिति चेत्, ^२ रथाभ्यतं ग्रहणानु^३ कूल्येनावस्थानमेव विषय
विषयिणोः संप्रयोग इति तत्र, विषयानुकूल्यग्रहणं प्रत्यनुपयोगात्^४। अन्यथा
तद्वित्तस्य द्विचन्द्रादेरग्रहणप्राप्ते:। असतस्तद्वित्तस्यापि ग्रहणं न सत् इति च
विभागपरिकल्पनस्य निर्बन्धनत्वात्^५। तत्र संप्रयोगस्यापि प्रत्यक्षत्वं ॥ 47 ॥

यदि अनुकूल विषय को इन्द्रियद्वृत्ति ग्रहण करती है तो माना जा सकता है। ग्रहण
करने की योग्यता के कारण ही विषय विषयी का संबंध स्थापित किया जाता है, यह भी
ठीक नहीं है। अनुकूलविषयता का ग्रहण के प्रति कोई उपयोग नहीं होने से। यदि ऐसा नहीं
मानोगे तो अनुकूल विषयता से रहित द्विचन्द्रादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। विषयानुकूलता
के बिना भी असत् का ग्रहण हो जाता है सत् का नहीं। इस प्रकार के विभाग की कल्पना
भी निरर्थक ही है। अतः इन्द्रिय व्यापार भी प्रत्यक्ष नहीं है ॥ 47 ॥

भवतु व्यवसायस्यैव विषयाकारपरिणतिविशेषात्मनो बुद्धिव्यापारस्य
प्रत्यक्षत्वं, प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टमितिवचनाद्, दृष्टमितिच प्रत्यक्षस्याभि-
धानादिति चेत्। विषयाकारपरिणामे बुद्धेर्दर्पणादिवदेव तस्याः प्रामाण्यान्मूर्त्त्वेना
चेतनत्वापत्तेः। अचेतनैव बुद्धिरनित्यत्वात्कलशादिवदिति चेत्। कथमिदानीं दर्पणा
दिवदेव तस्याः प्रामाण्यं यतस्तद्वापारविशेषस्य प्रत्यक्षत्वं, तस्य तद्विशेषत्वेन

^१ चक्षुर्भिरस्य।

^२ अभावं विनेति भावः।

^३ जैनो वदति।

^४ ग्रहणयोग्यतया।

^५ अर्थानिमित्तकत्त्वात्।

^६ निकारणत्वात्।

तदभावेऽनुपपत्ते । चेतनसंधकाच्छेतनैव बुद्धिरिति चेत् कुतो न दर्पणादिरप्येव? चेतनस्य व्यापकत्वेन तत्संपर्कस्य तत्रापि भावात् । बुद्धावेष तद्विशेषस्य भावादिति चेत् । स कोऽपरोऽन्यत्र तत्स्वाभाव्यादिति चेतनात्मैव बुद्धिः । न चैव तत्र विषयाकारकल्पनमुपपत्रं मूर्त्तत्वाभावात्, मूर्त्तेषु एव दर्पणादिषु मूर्त्तमुखाद्याकारस्योपलंभादिति न 'तदाकारस्य' व्यवसायत्वेन प्रत्यक्षत्वकल्पनमुपपत्तिमत् । कुतो वा बुद्धेरन्यस्य चेतनस्य भावे तत एव न विषयप्रतिपत्तिर्यतो बुद्धेस्त दर्थान्तरस्य कल्पनं । बुद्धिकरणकादेव ततस्तत्प्रतिपत्तिकरणस्य तत्र तदव्यापारस्यासंभवात्तो बुद्धयथ्यथसितं^१ बुद्धिप्रतिसंकान्तमेव चेतनः 'प्रतिपद्यते ततो युक्तमेव तत्कल्पनं साफल्यादिति चेत्^२ बुद्धयप्रतिपत्तिपलौ लत्यातिसंकान्तमुख प्रतिपत्तेरप्रतिपत्तेः । लत्प्रतिपत्तिश्च यदि बुद्धयन्तरप्रतिसंकमद्वारेण, भवत्यनवस्थानं, तदन्तरस्यापि तदपरतत्प्रतिसंकमद्वारेणैव प्रतिपत्तेः । अतद्वारायां तु प्रतिपत्तौ विषयप्रतिपत्तेरपि बुद्धिप्रतिसंकमनिरपेक्षाया एवोपपत्तेः कर्थं न व्यर्थैव बुद्धिपरि कल्पना भवेत् । बुद्धेविषयप्रतिपत्तिवत् स्वप्रतिपत्तावपि स्वयमेव करणत्वादुपपत्रं तत्प्रतिपत्तेस्तदन्तरप्रतिसंकमनिरपेक्षणं । न चैव विषयप्रतिपत्तेविषयस्य ग्राह्यतया कर्मत्वेन स्वप्रतिपत्तौ करणत्वानुपपत्तिरिति चेत्, कथमिदानीं बुद्धेरपि लत्प्रतिपत्तौ करणस्यकर्मत्वं यतस्तदग्राह्यता भवेत्, कर्मणः करणत्वत् करणस्यापि कर्मत्वानुपपत्तो बुद्धावुभयधर्मोपपत्तौ विषयेषुपि स्यादविशेषात् विषयस्य स्वप्रतिपत्तिकरणत्वे सर्वोपि विषयः सर्वस्य प्रतिपत्रं एव भवेत्तप्रतिपत्तिकरण भावस्य सर्वत्र तत्र व्याख्यादिति चेत्^३ बुद्धावद्वेषोऽन्यत्रात् ॥५३॥

इन्द्रिय व्यापार को प्रत्यक्ष न मानो किंतु विषयाकार परिणति विशेषात्मक बुद्धि का व्यापार रूप व्यक्षसाय ही प्रत्यक्ष है । 'विषय के प्रति अव्यक्षसाय ही प्रत्यक्ष है' ऐसा वचन होने से । 'दृष्ट' यह प्रत्यक्ष के लिये कहा गया है, ऐसा नहीं कह सकते बुद्धि के विषयाकार परिणाम होने पर दर्पणादि के समान ही उसकी प्रमाणता होने से मूर्त्तता के करण उसके अद्यतनत्व का प्रसंग हो जायगा । यदि यह कहा कि बुद्धि अद्यतन ही है अनित्य होने से कलशादि के समान तो दर्पण आदि के समान ही बुद्धि की प्रमाणता कैसे सिद्ध होगी, जिससे उसके व्यापार विशेष को प्रत्यक्षत्व हो, प्रमाणता के बिना प्रमाण विशेष नहीं होने से चेतन के संसर्ग से बुद्धि चेतन ही है ऐसा कहते हो तो दर्पण आदि भी चेतन के संघर्ष से चेतन क्यों नहीं हो जायेगे? चेतन के व्यापक होने से उसका संपर्क दर्पण में भी होने से बुद्धि में ही यह विशेषता होती है यदि यह कहते हों तो वह उसके रवभाव के अतिरिक्त अन्य कीन है? अतः बुद्धि चेतनात्मा ही है ।

इस प्रकार बुद्धि में विषयाकार की कल्पना भी नहीं उत्पन्न होती, बुद्धि के मूर्त्त नहीं होने के कारण, मूर्त दर्पण आदि में ही मूर्त मुखादि अकार की प्राप्ति होने से । अतः तदाकार को व्यक्षसाय होने के कारण प्रत्यक्षत्व की कल्पना नहीं हो सकती बुद्धि से भिन्न चेतन के होने पर

^१ संतुल्यो वक्ति ।

^२ बुद्धिव्यापारस्य ।

^३ बुद्धिप्रतिपत्तिविशेष विषय ।

^४ जानन्ति ।

^५ पतीता अप्रतीता वेत्ति विकल्पद्वय उल्पशयाह ।

^६ कर्मत्वकरणत्वे ।

उससे ही विषय की प्रतिपत्ति क्यों नहीं हो जायगी, जिससे चेतन से भिन्न बुद्धि की कल्पना की जाय बुद्धि व्यापार से ही चेतन के विषय की प्रतिपत्ति करने से चेतन में विषय प्रतिपत्ति का व्यापार नहीं होने से बुद्धि से निश्चित किये हुए और बुद्धि में प्रतिबिंबित विषय को ही चेतन जानता है, अतः बुद्धि की कल्पना उचित ही है, सफलता होने से यह कहना भी ठीक नहीं है बुद्धि की प्रतिपत्ति नहीं होने पर उसमें प्रतिबिंबित विषय की भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। दर्पण की प्रतिपत्ति नहीं होने पर उसमें प्रतिबिंबित मुख की प्रतिपत्ति नहीं होने से | यदि बुद्धि की प्रतिपत्ति दूसरी बुद्धि में उसके प्रतिबिंबित होने से कहो तो अनवस्था हो जायेगी क्योंकि उस दूसरी बुद्धि को भी दूसरी बुद्धि में ब्रह्मित्वित होने से | यदि दूसरी बुद्धि के बिना ही बुद्धि की प्रतिपत्ति होती है तो विषय की प्रतिपत्ति भी बुद्धि में प्रतिबिंबित होने की अपेक्षा के बिना ही हो जायगी फिर बुद्धि की कल्पना व्यर्थ क्यों नहीं हो जायगी बुद्धि के विषय के ज्ञान के समान अपने ज्ञान में भी स्वयं कारण होने से सिद्ध हो जाता है कि उसका ज्ञानअन्य बुद्धि में प्रतिबिंबित होने की अपेक्षा नहीं सखता ।

ऐसा नहीं है—विषय की प्रतिपत्ति में विषय के ग्राह्य होने से कर्मत्व होने के कारण स्वयं का ज्ञान करने से यह करण नहीं हो सकेगा यदि ऐसा कहते हो तो फिर बुद्धि को भी उसके ज्ञान के लिए करण को कर्मत्व होगा, जिससे यह ग्राह्य हो सके, जिस प्रकार कर्म करण नहीं हो सकता, उसी प्रकार करण भी कर्म नहीं हो सकता | यदि बुद्धि में कर्मत्व और करणत्व दोनों क्षर्मभावसे हो तो विषय में भी दोनों धर्म हो जायेगे, समान होने से | विषय भी यदि अपना ज्ञान स्वयं करने लगेगे तो सभी विषय सभी के द्वारा ज्ञात हो जायेगे जानने का भाव सर्वत्र होने से ऐसा नहीं कह सकते, बुद्धि में भी यह प्रसंग आने से । ४८ ॥

अथ या यस्य बुद्धिः सैव तस्य तत्प्रतिपत्तौ करणं नापरा लदयमदोष इति । यस्येति^१ कुतः? कुशित्प्रत्यासत्तिविशेषादिति चत्र, विषयेऽपि तुल्यत्वात् । तस्यापि हि यो यस्य प्रत्यासन्नः स एव तस्य तत्प्रतिपत्तौ करणं नापर इति कर्तुं शक्यत्वात् सर्वोपि सर्वात्मानं प्रति प्रत्यासन्न एवात्मनो व्यापकत्वेन सर्वत्र तत्र भावादित्यपि समानं बुद्धिष्वपि । तत्र विषयप्रतिपत्तौ विषयवद्बुद्धेरपि करणत्वमिति^२ न लदव्यापारस्य प्रत्यक्षत्वं प्रागुक्तस्य सम्यग्ज्ञानस्यैव स्पष्टावभासिनस्तदुपपत्तेः । ४९ ॥

यदि यह कहो कि जो जिस की बुद्धि है, वही उसके जानने में साधन है, दूसरी नहीं अतः कोई दोष नहीं है तो यह कैसे कहा? किसी निकटत्व के कारण यह नहीं कह सकते विषय में भी यह बात समान होने से उसके लिए भी यह कहा जा सकता है कि जो जिसके निकट है, वह ही उसकी प्रतिपत्ति में करण है दूसरा नहीं सभी सभी के निकट हैं आत्मा के व्यापक होने से सर्वत्र स्वयं के होने से, यह बात बुद्धि में भी समान है | अतः विषय जैसे विषय का ज्ञान नहीं कर सकता, उसी प्रकार बुद्धि भी स्वयं को नहीं जान सकती | अतः बुद्धि के व्यापार को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते, पूर्ण में कहे गये स्पष्टावभासी सम्यज्ञत्व को ही प्रत्यक्षत्व होने से । ४९ ॥



^१ स्यद्वायी अह ।

^२ बुद्धेरतत्वाभ्युपगमादिति शेषः ।

अथ प्रत्यक्षस्य भेदद्वयवर्णनं विधीयते । अब प्रत्यक्ष के दो भेदों का वर्णन करते हैं ।

तत्क्ष प्रत्यक्षं द्विविधं सांब्यवहारिकं मुख्यं चेति । सांब्यवहारिकमपि द्विविधं इन्द्रियप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षं चेति । तत्रैद्वियस्य चक्षुरादेः कार्यं यद्वहिनीलादिसंवेदनं तदिन्द्रियप्रत्यक्षम् । कथं^१ पुनस्तस्य विषयनियमः? कथं^२ च न स्यात्? संवेदनात्मना नीलादिकत्तदपरनिरवशेषविषयापेक्षयाऽपि तस्य^३ तुल्यत्वादिति चेत्रं शक्तिनियमस्तु सांब्यपत्तेः नियतशक्तिका हि संवित्स्य । 'स्वहेतुसामर्थ्यादुपजायते संसारिणामतो नियतस्यैव विषयस्य प्रतिपत्तिने संवस्य । 'यावत्रियतशक्तिकत्त्वास्तत्र विषयनियमस्तावश्चियतविषयसारालप्यादेवेति' कुतो न भवेत्^४ भवति हि नीलसारालप्ये संवेदनस्य नीलस्यैवेदं संवेदनं न पीतादेरिति तश्चियम् इति चेत् कि पुनस्तस्य तत्सारालप्यं? न तावत्सदादिरूपे तस्यापिसर्वत्र साधारणत्वेन नियामकत्वानुपपत्तेः । नीलरूपमेव तदिति चेत्रं तस्य बहिरेय दर्शनान्न संवेदने, तस्या^५ न्तरत^६ द्रूपस्यैवोपलंभात् प्रतिपादितश्च तस्य संवेदनबहिर्भावः पुरस्तात् । कुतो न वा नीलसंवेदनं नीलेनैव पीतादिनाऽपि "संरूपं? तस्यैव तत्कारणत्वादिति चेत् कि न चक्षुरादिनापि तस्यापि तद्वेतुल्यादिशेषत् । नीलानुकरण एव तस्य शक्तिरिति चेत् अर्थमिदा^७ नी तत्र तत्सारालप्यं शक्तिं एव नियमवत्या विषयनियमोपपत्तेः । एवं हि पारंपर्यपरिश्रमः परिहृतो भवति, शक्तिनियमात्सारालप्यनियमस्ततोऽपि विषयनियम इति त्सत्यपि सारालप्ये किंवा तत्रीलंघनीलस्येत्युक्तं न संवेदनगतं, तत्र भेदाभावेन व्यतिरेकविभक्तेरनुपपत्तेः । बहिर्गतमिति चेत्, तत्रापि कुतः संवेदनं? तस्य तद्विषयत्वादिति चेतदपि कुतः? साक्षादेव तेन तस्य ग्रहणादिति चेत्रं, बहिरन्तालपतया नीलद्वयस्याप्रतिवेदनात् । तत्सरूपत्वात्तद्विषयत्वं न साक्षादिति चेत्रं, तथा तदप्रतिपत्तौ तत्सरूपत्वस्यैव दुख बोधत्वात् द्वयोर्हिप्रतिपत्तौ भवति तदगतस्य सारालप्यस्य प्रतिपत्तिनाप्रतिपत्तौ, "द्विष्ठसारालप्यसंवित्तिर्नैकरूपप्रवेदनात्, द्वयोः स्वरूपग्रहणे सति सारालप्यवेदनम्" इति न्यायात् । ततो युक्तं शक्तिनियमादेव विषयनियमः संवेदनस्येति ॥५०॥

^१ सौगतः पृच्छति ।

^२ जीवः पृच्छति ।

^३ चक्षुरादिकार्यसंवेदनस्य ।

^४ ज्ञानावरणसीर्यात्मशायकर्मक्षयोपशमसामर्थ्यात् ।

^५ यथा ।

^६ तथा ।

^७ विषयनियमः ।

^८ सति ।

^९ मध्ये इत्यर्थः ।

^{१०} अनीलरूपस्य ।

^{११} समानरूपं ।

^{१२} शक्तिप्रतिपादनसमये ।

वह प्रत्यक्ष दो प्रकार का है—सोव्यवहारिक प्रत्यक्ष और मुख्य प्रत्यक्ष। संबोधनात्मक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष। उसमें चक्षु आदि इन्द्रियों का जो कार्य है, ज्ञान नीलादि का ज्ञान करना, वह इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। सौंगत पूछते हैं, उसके विषय का नियम कैसे है? रसायादी कहते हैं—कैसे नहीं है? बौद्ध कहते हैं—संबोधनात्मक चक्षु आदि के द्वारा नीलादि के समान अन्य समस्त विषयों की अपेक्षा भी चक्षु आदि के संबोधन कार्य के समान होने से रसायादी कहते हैं। यह कहना ठीक नहीं है, शक्ति की अपेक्षा ज्ञान की उत्पत्ति होने से। संसारी जीवों का ज्ञान अपने अपने ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के अनुसार सीमित शक्ति वाला होता है अतः सीमित विषयों का ही ज्ञान कर सकता है सबका नहीं। बौद्ध कहते हैं—जैसे सीमित शक्ति के कार्यों द्वारा सीमित विषयों की जीवने की विधि है उसी प्रकार सीमित विषयों को समानता के कारण ही सीमित विषयों का ज्ञान क्यों नहीं हो जायगा? संबोधन के नील सारूप्य होने पर नील का ही संबोधन होगा, पीतादि का नहीं, यह नियम है यदि यह कहते हों तो नील का तत्सारूप्य क्या है? सदादि रूप तो कह नहीं सकते, उसके सर्वत्र साधारण रूप से नियामक नहीं होने से। नीलरूप ही सारूप्य है—यह कहना भी ठीक नहीं है, यह बाहर ही दिखाई देता है संबोधन में नहीं। संबोधन में तो अनीलरूप की ही प्रतीति होती है। पहले ही नीलादि को संबोधन से बाहर बताया जा चुका है। नीलसंबोधन नील के समान पीतादि के समान रूप क्यों नहीं है? नील के ही नील संबोधन का कारण होने से यदि यह कहते हों तो फिर चक्षु आदि से भी नियत विषय का ही ज्ञान क्यों नहीं होगा? वहाँ भी समान हेतु होने से। नीलानुकरण में ही उसकी शक्ति है तो फिर सारूप्य का कहना व्यव्यहार है। नियमवती शक्ति से ही विषय के नियम की उत्पत्ति होने से। इस प्रकार शक्ति के नियम से सारूप्य का नियम और सारूप्य के नियम से विषय का नियम इस परिश्रम की परंपरा का परिहार हो जाता है। सारूप्य के होने पर भी वह नील क्या है? जिसके लिए नीलरूप ऐसा कहा है? संबोधनगत तो हो नहीं सकता, संबोधन में भेद का अभाव होने से भिन्न वस्तु की उत्पत्ति नहीं होने से यदि यह कहते हों तो वह भी कैसे? साक्षात् ही उसके द्वारा उसका ग्रहण होने से यह कहना भी ठीक नहीं है, बाह्य और अन्तरंग रूप से नील और नीलसारूप्य का प्रतिबोधन नहीं होने से। उसके सदृश होने से वह उसका विषय होता है साक्षात् नहीं यह भी नहीं कह सकते। विषयरूप से उसकी प्रतिपत्ति नहीं होने पर उसके सारूप्य का ही कठिनाई से बोध होने से। दोनों की प्रतिपत्ति होने पर ही उसके सारूप्य की प्रतिपत्ति होती है, अप्रतिपत्ति होने पर नहीं एक रूप के जानने पर दोनों सारूप्य की संवित्ति नहीं होती। दोनों के स्थारूप को ग्रहण करने पर सारूप्य का वेदन होता है। यह नियम है। अतः संबोधन के द्वारा शक्ति के अनुसार ही विषय का ज्ञान होता है यह ठीक ही है। ॥५०॥

तदाकारत्वेन तु तस्य तत्रियमे केशमशकादौ कुतस्तसंबोधनस्य नियमः। नहि तत्र तदाकारत्वं, केशमशकादेरसद्गुपतया तदर्पकत्वानुपपत्तेः। अतः सकलस्याप्यसतस्तद्विषयत्वेन भवितव्यम्। अतदाकारतया विविष्टतवदिदतरनिरव—शेषाविद्यमानापेक्षायापि तस्याविशेषत्। न वा कस्यचिदपीत्यप्रतिवेदनमेवासद्गुपस्येति न प्रत्यक्षलक्षणे तदव्यवच्छेदार्थमभ्रांतग्रहणमुपपत्रम्। स्वयमेवासति तद्वेदने व्यवच्छेदनस्य किंशुकेराणार्पणवदनुपपत्तेः। ॥५१॥

तदाकार होने से संवेदन के द्वारा विषय ज्ञान का नियम मानने पर केशमशकादि में उनके संवेदन का व्यापक नियम है? केशमशकादि में तदाकारत्व तो हो नहीं सकता केशमशकादि के असत् रूप होने से वहाँ तदाकारत्व की उत्पत्ति नहीं होने से। केशमशकादि में तदाकारत्व मानने पर तो सभी असत् संवेदन के विषय हो जायेंगे। अतदाकार भावने पर केशमशकादि के समान संपूर्ण अविद्यमान का भी संवेदन होना चाहिये, समानता होने से। किसी का भी प्रतिवेदन नहीं होता। अतः असत् रूप का प्रतिवेदन नहीं होता। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में उसका खंडन करने के लिए अभास्त् ग्रहण उत्पत्ति नहीं होता। स्वयं ही वेदन नहीं होने पर उसका खंडन करना उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे कि किंशुक के स्वयं लाल होने पर उसको लाल रंग से संगना व्यर्थ है। ॥५१॥

कथं पुनरसतः केशादेशाकारार्पणवद्विषयत्वमपीति चेत् स्यादयं प्रसागो
यदि तस्य स्वशक्तितो विषयत्वं। न चैव वेदनसामर्थ्यादेव तदावत्तादृष्ट
तत्सामर्थ्यादृष्ट्यात्तराददृष्टिशेषाद्युद्धा विदि ॥ अरलास्त्राद्यवलादेरिति प्रतिमत्त्वम्
मनुमत्तव्य चेदमित्थम्। अन्यथा क्वचित्कस्यचिदपि व्यापोहस्यानुपपत्त्या तदत्य-
वच्छेदार्थस्य शास्त्रस्य^१ वैफल्योपनिपातात्। असदर्थप्रतिवेदनादपरस्य^२ च
व्यापोहस्यानुपपत्तेः। ततः स्थितं स्वशक्तितो विषयनियमः^३ संवेदनस्यतत्त्वाद-
सद्विषय नियमवदिति। न कस्याप्यसतः संवेदनं केशादेशपि देशात्तरादौ सत एव
“कामलिना प्रतिवेदनादिति केचित्”। तत्र तद्वेदनस्य “यथावस्थिततत्केशादि
विषयत्वे विभ्रमत्वाभावापत्तेः। अतदेशादित्वेन ग्रहणाद्विभ्रमत्वमिति चेत्। न
अतदेशत्वादेस्त्राभासत्यात्। सतोपि तस्य ग्रहणे केशादेरेव किं न स्यात्
यतस्तत्प्रतिपत्तिरसत्त्वातिरेव न भवेत् अर्थविषयैव तद्विस्तिस्तदर्थस्य त्वलौकिक-
त्वात्तत्र विभ्रमाभिमानो लोकस्योति मतं यस्य तस्यापि किमिदं तदर्थस्या-
त्लौकिकत्वं? “समानदेशकालैरप्यैन्यैस्तदर्शननिमित्ताभावेना”^४ दृश्यत्वमिति चेत्, किं
पुनस्तुत्रिमित्तं यदभावात्^५ स्यादृश्यत्वं। काचादिरेव कारणदोष इति चेत्,
व्याहतमिदं वरतुसद्विषयवेदनहेतोर्दोषत्वमिति चक्षुरादेरपि “तत्त्वापत्तेः न
चासाधदोष”^६ एव तत्त्विकित्सायामनर्थस्यप्रसंगात्। ॥५२॥

^१ “प्रभाष्य व्यवहारेण शास्त्र मोहनिकर्त्तनमिति वाक्यस्त।

^२ सख्यातिरसत्त्वातिः प्रसिद्धार्थव्यातिरात्मख्यातिरिपरीतार्थव्यातिः रमृतिप्रमोष इत्येवं लप्त्यापरस्येति भाव।

^३ भवतीति शब्दः।

^४ पुंसा।

^५ सांख्यः। ६. यथार्थरिथत

^६ तथा थ न कस्याप्यसतः संवेदनमित्यादि न स्यात्।

^७ धर. ग्राह।

^८ पुमि।

^९ केशादिवर्शन।

^{१०} विषयस्य।

^{११} केशादे।

^{१२} वरतुसद्विषयवेदनहेतुल्याविशेषत्।

^{१३} गुण।

फिर कैसे असत् केशादि को आकाशादि के आशेष के समान विषयत्व भी है यदि यह कहते हों तो कश्चित् यह मान्य हो सकता है, यदि वह अपनी शक्ति से विषय हो तो किंतु ऐसा नहीं है संवेदन की अभ्यंता से ही उसके विषयत्व होने से। उस प्रकार की उसके संवेदन की समर्थता उसके अन्तर्गत अदृष्ट विशेष से तथा बाह्य विष के आस्त्रादन तथा कामलादि रोग से होती है, यह जानना और मानना चाहिये। अन्यथा कहीं किसी के अङ्गान की उत्पत्ति नहीं होने से उसको दूर करने वाले शास्त्र की विफलता का प्रसंग आने से। असत् अर्थ के प्रतिवेदन से भिन्न सत्त्वाति, असत्त्वाति, प्रसिद्धार्थत्वाति, विकरीत्वार्थत्वाति, सृतिप्रभोष आदि किसी अङ्गान के उत्पन्न नहीं होने से। अतः अपनी शक्ति से ही विषय का नियम सिद्ध होता है संवेदन के वैसा होने से असत् विषय के भिन्नम् के समान।

सार्वत्र कहते हैं—असत् का संवेदन किसी के नहीं होता, केशादि का भी दूसरे देश आदि में सत् का ही कामलि आदि के द्वारा प्रति वेदन होता है। यह कहना ठीक नहीं है। उस ज्ञान के यथार्थ स्थित केशादि का विषयत्व मानने पर विभम का अभाव हो जायगा। दूसरे देश आदि से ग्रहण के कारण विभ्रमत्व है, यह कहना भी उचित नहीं है, दूसरे देश आदि के वहाँ भी होने से।

असत्देशादि के ग्रहण करने पर केशादि के ही असत् का ग्रहण क्यों नहीं हो जायगा, जिससे यह प्रतिपत्ति असत्त्वाति नहीं होगी। अर्थ को ही विषय करने वाली वह प्रतिपत्ति है, उस अर्थ के अलौकिक होने से संसार को विभम का अनुभव होता है, जो ऐसा कहते हैं उनके यहाँ अर्थ का अलौकिकत्व क्या है? समान देशकालवाले भी अन्य पुरुषों के द्वारा केशादि के दर्शन का निमित्त नहीं होने से केशादि विषय का अदृश्यत्व है यदि यह कहते हों तो वह निमित्त क्या है? जिसके अभाव से केशादि का अदृश्यत्व है? काचादि (नेत्र दोष विशेष) कारण दोष यदि यह कहो तो वस्तु के सहित्य के लिये यह दोष व्यर्थ ही है। विकृ को भी सत् वस्तु के ही वेदन का हेतु होने में समानता होने से। यह दोष रहित भी नहीं है उसकी विकृत्वा को व्यर्थ होने का प्रसंग होने से। ॥५२॥

अलौकिकत्वं लोके तस्यादिद्यमानत्वं, तदपि तत्प्रयोजनानिष्यादनादिति^१ चेत्, असद्विषयैव तर्हि तत्प्रतीतिरिति स्पष्टमभिधातव्यं, किंमलौकिकार्थत्वाति—रित्यभिधीयते। सृतिरेवेयं प्राग्नुभूतस्यैव केशादेः काचादिभता^२पि प्रतिवेदनान्नासतोऽतिप्रसंगादित्यपि कस्यचिद्वचनमसमीचीनमेव, सृतित्वे पुरोदर्तितया तस्याप्रतिवेदनप्रसंगात् प्रमोषवशास्तथा तत्प्रतिवेदनभिति चेत्, कः पुनरयं प्रमोषो नाम? स्वरूपात्प्रच्युतिरिति चेत्र तर्हि सृतिरिति कथं तथा केशादेः प्रतिवेदनं ॥५३॥

अलौकिकपना उसका लोक में विद्यमान न होना है उस केशादि से अर्थकिया लक्षण प्रयोजन के निष्पत्ति भी होने से यदि यह कहते हों तो वह प्रतीति असद्विषयक ही है। यह स्पष्ट कहना चाहिये। फिर अलौकिक अर्थकी ख्याति यह क्यों कहते हो? यदि कोई कहे कि यह रमृति ही है, पहले अनुभव किये हुए केशादि का ही काचादि दोष वाले से भी

^१ तेन केशादिना प्रयोजनस्यार्थकियालक्षणरथनिःपादनात् ।

^२ किमर्थमित्यर्थः ।

पुस्ती

प्रतिवेदन होने से असत् का नहीं, अतिप्रसंग होने से तो उसका यह कथन भी समीचीन नहीं है, स्मृति होने से पहले उसके अप्रतिवेदन का प्रसंग होने से।

प्रमोष के कारण उसका प्रतिवेदन होता है, यदि यह कहते हों तो यह प्रमोष क्षमा है? स्वरूप से पतन यह कहते हों तो फिर स्मृति ही नहीं होगी, फिर उससे केशादि का प्रतिवेदन कैसे होगा । १३ ॥

स्वरूपात्प्रव्युताप्यस्ति स्मृतिर्यदि मते तत् ।
सुप्तो न किं प्रबुद्धोऽस्तु जीवितोऽस्तु मृतो न किंम् ॥

यदि तुम्हारे यहाँ स्वरूप से पतन होना भी स्मृति है तो फिर सोया हुआ जागा हुआ क्यों नहीं हो जायगा और मरा हुआ भी जीवित क्यों नहीं हो जायगा?

अथ स्वविषयस्य^२ पुरोवर्तिलक्ष्मीप्राङ्करस्तेव^३ पुरुषादिकरक्ष्मा^४ प्रसोद,
तत्र । पुरोभावस्यासत्ये^५ ग्रहणानुपपत्ते, अन्यथा^६ केशादेरेवासतस्तस्यभवादसत्
ख्यातिरेव संभवेत्र स्मृतिप्रमोषः । ततः स्थितं यथा स्वहेतुसामर्थ्यादेवासदवभासिन
इन्द्रियज्ञानस्य विषयनियमस्तथा सदवभासिनोऽपि । तत्र, सारुप्यात्तकल्पन-
मुपपत्रं । इति निरूपितमिदियप्रत्यक्षम् । १४ ॥

अतद देशात्व से अनुभव किये हुए अपने विषय को पूर्ववर्ती होने से ग्रहण करना ही किसी कारण से स्मृति का प्रमोष है, यह कहना भी तीक नहीं है, पहले विद्यमान न होने पर उसका ग्रहण नहीं होने से यदि पुरोभाव के न होने पर भी उसका ग्रहण होता है तो फिर असत् केशादि का भी ग्रहण संभव होने से असत्ख्याति ही संभव होगी, स्मृतिप्रमोष नहीं । अतः जैसे अपने कारण सामर्थ्य से असत् को जानने वाले इन्द्रिय ज्ञान का विषय नियम है उसी प्रकार सत् को अक्षमास करने वाले इन्द्रिय ज्ञान का भी है । अतः सारुप्य से विषयग्रहण की कल्पना सिद्ध नहीं होती इस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष का निरूपण किया । १४ ॥

* * *

अधुना अनिन्द्रियप्रत्यक्षस्वरूपकथनार्थमाह ।

अब अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष का स्वरूप कहने के लिए कहते हैं—

किं पुनरनिन्द्रियप्रत्यक्षमिति चेत्, सुखादेः स्मरणादिज्ञानस्य च
स्वरूपवेदनमेवं तत्र स्पष्टावभासितया प्रत्यक्षव्यपदेशोपपत्ते । अनिन्द्रियं चेह-

^१ सुप्तश्चेत्प्रबुद्धस्तहि तस्य स्मरणेन भवितव्यं तत्त्वं तस्य नास्तीति कथं तस्य तस्वभिति कस्यचित्प्रश्नस्यापि स्वरूपात्प्रव्युता स्मृतिशसीरस्तुतरं वाच्यं एवमग्रस्थे चतुर्थोऽपि ।

^२ असैशत्वेनानुभूतस्य ।

^३ ग्रहणमेव ।

^४ करणदिति शेषः ।

^५ पुरोविद्यमानत्यस्य ।

^६ पुरोभावस्यासत्येऽपि तद्यग्रहणात् ।

पौदगलिकं मनः प्रतिपत्तव्यं तदायत्तजम्भजत्ये सुखादिस्मरणादीनां काकादिष्व—
मनस्केषु तदभावानुषंगात् । न च तत्र न संत्येव तानि, स्मरणप्रत्यभिज्ञानादि—
निबन्धनतयास्वदेहोपलब्धस्य प्रवृत्त्यादेस्तत्रापि प्रतिपत्तेरतःक्षयोपशमविशेष लिङितः
कर्तिवदात्मप्रदेश एवानिंद्रियं तत्प्राधान्येन सुखाद्युत्पत्ते: काकादिष्वप्युपपत्तेरत एव
युरुभिरनंतवीर्यदेवैरपि तत्त्वयानिंद्रियत्वमध्यनुज्ञातम् ॥ 55 ॥

अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष क्यो है? यदि वह कहते हों तो सुखादि तथा स्मरणादि ज्ञान के
त्वरूप का देवन ही अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है वहां स्पष्ट अवभासी होने के कारण उसे प्रत्यक्ष
नाम दिया जाने से, यहां अनिन्द्रिय पौदगलिक (अष्टदल कमलाकार) मन नहीं जानना चाहिये,
यदि पौदगलिक मन से प्रत्यक्ष ज्ञान मानोगे तो अमनस्क कौए आदि में सुखादि स्मरणादि के
ज्ञान के अभाव का प्रसाग आयेगा। काकादि में सुखादि स्मरणादि का ज्ञान नहीं है ऐसा नहीं
है यहां सुखादि स्मरणादि ज्ञान होते हैं स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि के कारण अपने शरीर की
प्रवृत्ति आदि यहां भी होने से अतः क्षयोपशम विशेष से संबंधित आत्म प्रदेश ही अनिन्द्रिय
है, उसी की प्रधानता से सुखादि की उत्पत्ति होने से काकादि में भी उत्पत्ति होने से अतः
अनन्तवीर्य गुरु ने भी उसी को (क्षयोपशम विशेष से संबंधित आत्मप्रदेश को) ही अनिन्द्रिय
माना है ॥ 55 ॥

किं पुनरेव^१ द्रव्यमनसः परिकल्पनेनेति चेत् द्रव्येन्द्रियस्य चक्षुरादेवपि
कि? न किथित् अत एव तदव्यापाराभावेऽपि सत्य स्वप्नादावन्तरगाद्वि
शुद्धिविशेषादेव रूपादिदर्शनं तदिंद्रियस्य तु जाग्रइशाभाविनि तदर्शने
लद्वेतोर्विशुद्धि विशेषस्य तदधिकरणं जीवप्रदेशाधिष्ठानत्वेन निमित्तमात्रत्वादेव^२
कल्पनमत एव गवाक्षस्थानीयतां तत्र व्यावर्णयति तत्त्ववेदिन इति चेत् तर्हि
द्रव्यमनसोऽपि परिकल्पनं क्वचित्सकलेंद्रियस्य^३ सुखादिवेदने तदवष्टव्यजीव—
प्रदेशाश्रयविशुद्धिविशेषनिबंधने निमित्ततयैव । न च निमित्तेन सर्वदा तत्कार्ये
सवितव्यभिति नियमो गवाक्षादिना व्यभिचारात् । कुतः पुनः शक्तिविशेषस्य क्षयोपशम—
मात्रमनोऽवगमो यतस्तत्प्रभवत्वमिन्द्रियादिप्रत्यक्षस्येति चेत् तत एव प्रत्यक्षात् । न
तावत्तदेतुकं कादाचित्कर्त्त्वात् । नापि द्रव्येन्द्रिय मात्रा तदभावेऽपि क्वचिदुत्पत्ते,
कदाचित्तद्वावेऽप्यनुत्पत्ते ।^४ तादृशं च तदात्मनि कारणान्तरस्य प्राधान्यमावेदयति ।
तत्र यथोक्तशक्तिविशेष एवेत्युपपत्रमिन्द्रियादिप्रत्यक्षस्य तत्प्रभवत्वमिति ॥ 56 ॥

^१ अष्टदलकमलाकार ।

^२ क्षयोपशमविशेषलिंगितात्मप्रदेशस्थानिन्द्रियत्वे ।

^३ पर्येन्द्रियस्य ।

^४ जीवस्येति ।

^५ जीवस्येति ।

^६ विवक्षित इति शेषः ।

^७ द्रव्येन्द्रियाभावेऽपि ।

^८ सत्प्रस्थनादी ।

^९ अन्यदस्तु गतचित्काले ।

^{१०} द्रव्येन्द्रियभावाभावान्यानुत्पत्तियिकलं ।

यदि क्षयोपशम विशेष से आलिंगत आत्मप्रदेश ही अभिन्दिय है तो फिर द्रव्यमन की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? यदि यह कहते हो तो फिर द्रव्यन्दिय चक्षु आदि की कल्पना की भी क्या आवश्यकता है? कोई आवश्यकता नहीं। क्षयोपशम विशेष से आलिंगत आत्मप्रदेश से ही चक्षु आदि के व्यापार के बिना भी सत्यस्वभावि में अन्तरण विशुद्धि विशेष से ही रूपादि का दर्शन होता है, चक्षु इन्द्रिय की तो जाग्रत् दशा में रूपादि विशुद्धि विशेष से ही रूपादि का दर्शन होता है, चक्षु इन्द्रिय की तो जाग्रत् दशा में रूपादि के दर्शन में उसके कारण विशुद्धि विशेष के आधार जीव प्रदेश का आधार होने के कारण निमित्त मात्र के रूप में ही कल्पना की गयी है, इसीलिए तत्त्वज्ञानी चक्षु इन्द्रिय को प्रकल्पना में गवाक्ष के समान निमित्त मात्र कहते हैं, यदि यह कहते हों तो द्रव्यमन की कल्पना भी कहीं पंचेन्द्रिय जीव के सुखादि के वैदन में वहाँ पर रित्थत जीवप्रदेश के आश्रित रहने वाले विशुद्धि विशेष को ही कारण होने पर निमित्त मात्र के लिए ही की गयी है। निमित्त का विशेषित कार्य में सदैव होना आवश्यक नहीं है, गवाक्षादि के साथ व्यभिचार होने से।

क्षयोपशम विशेषात्मक शक्ति विशेष का ज्ञान किससे होता है? जिससे इन्द्रियादि प्रत्यक्ष को उससे उत्पन्न माना जाय यदि यह कहते हों तो उसी प्रत्यक्ष से वह शक्ति विशेष कभी होने से अकारण भी नहीं है। द्रव्यन्दिय मात्र से प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, दृष्टेन्द्रिय नहीं होने पर भी कहीं सत्यस्वभावि में प्रत्यक्ष ज्ञान होने से और कहीं अन्य वस्तु में होने पर भी कहीं सत्यस्वभावि के होने पर भी ज्ञान नहीं होने से। इस प्रकार द्रव्यन्दिय के न होने पर भी ज्ञान के होने और द्रव्यन्द्रिय के होने पर भी ज्ञान के न होने के कारण दूसरे कारण को प्रधान माना गया है और वह प्रधान कारण ऊपर कहा हुआ शक्ति विशेष ही है। अतः इन्द्रियादि प्रत्यक्ष उसी से उत्पन्न होता है, वह सिद्ध हुआ। १५६ ॥

कुतः पुनस्तदुभयस्यापि मुख्यमेव प्रत्यक्षत्वं न भवतीति चेत्
वैशद्यसाकल्यस्य तत्रिक्षेपस्य तत्राभावात्। व्यवहारिकत्वं तु तत्र तस्य वैशद्ये
लेशोपाश्रयेण लोकस्य प्रत्यक्षव्यवहारप्रसिद्धः। १५७ ॥

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्दिय प्रत्यक्ष इन दोनों को मुख्य प्रत्यक्ष क्यों नहीं कहा? यदि यह कहते हों तो संपूर्ण विशदता का जो मुख्य प्रत्यक्ष का कारण है वहाँ अभाव होने से। व्यवहारिकत्व तो वहाँ किंचित् विशदता होने के कारण संसार में व्यवहार की प्रसिद्धि होने से कहा गया है। १५७ ॥

तत्पुमरुभयमपि^१ प्रत्येकमवग्रहेहाऽवायधारणाविकल्पाच्यतुर्विद्धं।
तत्र विषयदिष्पयिस^२ त्रिपातानंतरभाविसत्ता^३ लोचनपुरस्त्रो मनुष्यत्वाद्यवांतर
सामान्याध्यवसायिप्रत्ययोऽवग्रहः। तदवगृहीतविशेषस्य देवदत्तेन भवितव्यमिति
भवितव्यतामुल्लिखती प्रतीतिरीहा। तद्विषयस्य देवदत्त एवायमित्यवधारणावानध्य-
वसायोऽवायः। तस्यैव^४ कालान्तरस्मरणयोग्यतया ग्रहण धारणा। तदेतेषामवग्रहायि
विकल्पानां पूर्वपूर्वस्य प्रमाणत्वमुत्तरोत्तरस्य च तत्फलत्वं प्रतिपत्तव्यम्।

^१ इद्वियासिद्धियप्रत्यक्षभेदात्।

^२ व्यायदेशस्थान।

^३ दर्शन।

^४ अवायविषयस्त्रैव।

स्वार्थव्यवसायस्याव्युत्पत्त्यादिव्यवच्छेदात्मनस्तदगतस्यापि कथंचित्पूर्वपूर्वस्मादुत्पत्ते विषयभेदनिबंधनश्चावग्रहादीनामस्ति संख्याविकल्पं सोन्यत्र प्रतिपत्तव्य । इति व्याख्यातं व्यवहारिकमिन्द्रियप्रत्यक्षमनिंद्रियप्रत्यक्षं च ॥ ५८ ॥

इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष दोनों ही अवग्रह ईहा अवग्रह और धारणा के भेद से चार प्रकार के हैं। वहां विषय विषयी के योग्य देश में संबंध होने पर सत्ता मात्र के अवलोकन पूर्वक बाद में भग्नात्म्य आदि अनेक सामान्य को ग्रहण करने वाला ज्ञान अवग्रह है, वह अवग्रहित विषय देवदत्त होना चाहिये, इस प्रकार भयितात्यता की और उन्मुख प्रतीति ईहा है और उस विषय को यह देवदत्त ही है इस प्रकार की निश्चयात्मक धारणा अवग्रह है और उसी को कालान्तर में भी स्मरण रखने की योग्यता पूर्वक ग्रहण करना धारणा है।

इन अवग्रहादि विकल्पों को पूर्वपूर्व की प्रमाणता है और उत्तरोत्तर का फलत्व है, ऐसा जानना चाहिये। अनध्यक्षसाय आदि का निराकरण करने वाले स्वार्थव्यवसाय के भी कथंचित् पूर्वपूर्व से उत्पन्न होने से विषय भेद के कारण अवग्रह आदि के कितने भेद हैं उन्हें अन्यत्र जानना चाहिये।

इस प्रकार व्यावहारिक इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया ॥ ५८ ॥

अधुना मुख्यप्रत्यक्षस्वरूपप्रतिपादनायाह ।

अब मुख्य प्रत्यक्ष का स्वरूप बताने के लिये कहते हैं—

मुख्यं तु प्रत्यक्षमतींदियप्रत्यक्षं तद् द्विविधं, सकलं विकलं थेति । विकलमपि द्विविधमवधिर्भनः पर्ययश्चेति । तत्रावधिर्भावधिज्ञानावरणवीर्यान्तराय क्षयोपशमदिशेषापेक्षया प्रादुर्भावोरुपाधिकरणभावगोचरो विषदावभासी प्रत्ययविशेषः । स च त्रिविधः, देशावधिपरमावधिसर्वावधिविकल्पात् । तत्र देशावधे भर्तिज्ञानविषयस्यासर्वपर्यायद्रव्यलक्षणस्यानन्तैकभागः^३, तदनन्तैकभागः परमावधे, तदनन्तैकभागश्च सर्वावधेविषयः प्रतिपत्तव्यः । विशुद्धचतिशायश्च पूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्थेति ॥ ५९ ॥

मुख्य प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। वह दो प्रकार का है— सकलात्म्यका और विकलप्रत्यक्ष। विकलप्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है— अवधि और भनःपर्यय। अवधि ज्ञान अवधिज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम विशेष से उत्पन्न रूपी पदार्थ को स्पष्ट प्रकाशित करनेवाला प्रतीति विशेष है। वह अवधि ज्ञान तीन प्रकार का है— देशावधि, परमावधि और सर्वावधि के भेद से। देशावधि का विषय भर्तिज्ञान के विषय द्रव्य की कुछ पर्यायों का अनन्तवां भग्न है, उसका अनन्तवां भाग परमावधि का विषय है और उसका भी अनन्तवां

^१ इदर्थे ।

^२ असर्वपर्याय द्रव्य लक्षण यस्येति समासो विधेयः ।

^३ सूक्ष्मरूपतया ।

^४ भवतीति शब्द ।

भाग सर्वाधिक का विषय है। विशुद्धिरूपी अतिशय भी पूर्वपूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर में अधिक है। देशाधिक से अधिक विशुद्ध परमावधि और परमादधि से अधिक विशुद्ध सर्वाधिक है। १५९ ॥

तथा मनःपर्ययोऽपि 'संयमैकार्थसमवायी तदावरणवीर्यन्तरायक्षयोपशम् विशेषनिबन्धनः परमनोगतार्थसाक्षात्कारी प्रत्ययः। सोऽपि द्वेषा, ऋजुमतिर्विपुलं मतिश्चेति। तत्र ^२'प्रगुणमनोवाक्ता'यैनिर्वर्तितोऽर्थः^४ पूर्वस्य, प्रगुणैरितैर्वा मनोवाक्ता यैनिर्वर्तितोऽनिर्वर्तितश्चार्थः पश्चिमस्य विषयः। सूक्ष्मतया तु सर्वाधिक विषयानंतैकभागे पूर्वस्य तदनंतैकभागे परस्य निबंधः^५। तथा विशुद्ध्यतिशयविशेष—वस्त्वादप्रतिपातित्वाच्च पूर्वस्मादुत्तरस्य विशेषो वेदितव्य इति व्याख्यातं विकलमतीन्द्रियप्रत्यक्षम्। १६० ॥

मनःपर्यय ज्ञान भी संयम के साथ समवाय रूप से रहनेवाला मनः पर्यय ज्ञानावरण तथा वीर्यन्तराय कर्म के क्षयोपशम से होने वाला दूसरे के मन के विषय को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। यह भी दो प्रकार का है—ऋजुमती और विपुलमती। सरल मन वचन काय से किये गये विषय को ऋजुमती जानता है तथा सरल और वक्त मन वचन काय से किये गये अथवा न किये गये दूसरे के मन के विषय को विपुलमती जानता है। सूक्ष्मता की दृष्टि से सर्वाधिक के विषय का अनन्तता भाग ऋजुमती का विषय है। और ऋजुमती के विषय का अनन्तता भाग विपुलमती का विषय है। विशुद्धि रूपी अतिशय तथा अप्रतिपातित्व (केवल ज्ञान होने तक न छूटना) की अपेक्षा ऋजुमती की अपेक्षा विपुलमती में अधिक विशेषता है। इस प्रकार विकल अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष का वर्णन किया। १६० ॥

सकलं तु तत्प्रत्यक्षं प्रक्षीणाशेषाधातिमलस^६ मुन्मीलितं सकलवस्तु याथात्म्यवेदनिरतिशयवैशद्यालंकृतं केवलज्ञानं। तद्वत् पुरुषस्य सद्वावे किं प्रभाणमिति वेत्। इदमनुमानं—अस्ति सर्वज्ञो निर्बाधप्रत्ययविषयत्वात् सुखादिनीलादिवत्। न च तत्प्रत्यये विवादस्त्रिष्वेधवादिनोऽपि तद्वायादन्यथा त्रिष्वेधस्यैव सद्विषयपरिज्ञानाभावेनासंभवप्रसंगात्। निर्बाधत्वमपि तस्य प्रत्यक्षा—दीनामन्यतमस्यापि तद्वाधकत्वासंभवात् तद्वाधकत्वं भावं तद्विषयासत्वमिवेदनमेव। तच्च प्रत्यक्षेण यदि व्युचित् कदाचित्किंविदनिष्टमन्युपगमात्। सर्वत्र सदापीति चेत्र, तस्य सर्वविषयत्वप्रसंगात्। अन्यथा तत्र तेन तत्रिवेदनानुपपत्तेः। भूतलमवलोकयैतैव तेन तत्र घटाद्यसत्ववेदनस्य प्रतीतेः। प्रत्यक्षाभावे च

^१ आमलकणार्थः।

^२ ऋजु।

^३ परेषां।

^४ निवृक्षः।

^५ वक्तः।

^६ प्रवृत्तिः।

^७ प्रदुर्भूतम्।

^८ पुराण।

तत्पूर्वकत्वेनानुभानस्याप्यसंभवात् न तस्यापि तद्वाधकत्वं । यदैषि विवादापन्नः सर्वोपि देशादि॒ सर्वज्ञविकलो॒ देशादित्वात् प्रसिद्धदेशादिवदिति॑ तदपि॒ न आध॑ देशादे॒ सर्वस्यागतिपन्नौ॒ हेतोराश्रगस्वरूपासिद्धदोषोपनिपातात् प्रतिपत्तौ॒ च तत्पतिपतिमतः॒ सर्वज्ञत्वापत्त्या॒ सर्वज्ञनिराकरणानुपपत्ते॑ ॥६१॥

सकल प्रत्यक्ष केवल ज्ञान है, जो संपूर्ण घटात्मा कर्म ऊपी भल के क्षय हो जाने पर संपूर्ण वस्तुत्व को यथार्थ जानने वाला अत्यधिक निर्भलता से अलंकृत होता है। केवल ज्ञान वाले पुरुष के होने का क्या प्रमाण है? यदि यह प्रश्न करते हों तो यह अनुमान प्रमाण है—सर्वज्ञ है निर्बाध ज्ञान का विभूत्य होने से, सुखादि तथा नीलादि के समान उसके ज्ञान में विवाद भी नहीं है, जो उसका निषेध करनेवाले हैं उनके भी निर्बाध ज्ञान वाला होने से उसका निषेध ही उस विषय के ज्ञान के बिना असंभव हो जायगा। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाण को उसका बाधक नहीं होने के कारण उसकी निर्बाधता भी है। बाधकत्व उस विषय के असत्त्व का विवेदन ही है। वह प्रत्यक्ष से कहीं कदाचित् किंचित् कहो तो ठीक है, सर्वत्र सर्वदा बाधकत्व नहीं कह सकते, जो सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ का अभाव मानते हैं—उन्हीं के सभी विषय को जानने का प्रसंग होने से। अन्यथा उसके ह्वारा सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ का अभाव नहीं कहा जा सकता। पृथ्वी को देखते हुए ही उसके ह्वारा वहां घटादि के भी होने के वेदन की प्रतीति होने से। प्रत्यक्ष के अभाव में प्रत्यक्ष पूर्वक होने वाला अनुमान भी नहीं हो सकता। अतः अनुमान भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। जो यह अनुमान है कि विवादापन्न सभी देशादि सर्वज्ञ से रहित हैं देशादि होने के कारण प्रसिद्ध देशादि के समान। वह भी ठीक नहीं है। उसभी देशादि के भी जानने पर हेतु के आश्रयासिद्ध और स्वरूपासिद्ध का प्रसंग आने से। सभी देशादि की प्रतिपत्ति वाले को ही सर्वज्ञत्व होने से सर्वज्ञ का निराकरण नहीं हो सकने से। ॥६१॥

यदपीदं—विवादापन्नः॒ सर्वज्ञो॒ न भवति॒ पुरुषत्ववत्त्वादे॒ रथ्यापुरुषवदित्यनुभानं॒ तदपि॒ न तस्य बाधकं॒ पुरुषत्वादेहेत्वाभासतया॒ निरूपयिष्यमाणत्वेन॒ तदुद्भावितस्य॒ तस्याप्यनुभानाभासत्वेनैवावरित्यते॑ । नाप्यर्थपत्तिः॒ स्तदुत्थापकस्य॒ सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपपन्नस्य॒ कस्ययिदर्थस्यानध्यवसायात्॑ नाप्यहमिव॒ सर्वे॒ पुरुषाः॒ प्रलिनियतमर्थमिदियै॒ पश्यतीत्युपपन्नमुपमानमपि॒ सर्वपुरुषाणां॒ कुतश्चिद्विषयी॒ करणे॒ स्वसर्ववेदित्वापत्तेरविषयीकरणे॒ त्वस्मृतिविषयत्वेनोपमेयत्वानुपपत्ते॑ ।३८२॥

जो यह अनुमान है कि विवादापन्न सर्वज्ञ नहीं होता, पुरुषत्व वत्त्वादि के कारण रथ्यापुरुष के समान, यह भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। पुरुषत्व आदि को हेत्वाभास के रूप में बताया जायेगा। अतः उसके ह्वारा होने वाला अनुभान भी अनुभानाभास ही होगा। अर्थापत्ति भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है। सर्वज्ञ के अभाव के बिना उत्पन्न न होने वाले किसी विषय को उसके उत्थापक का निश्चय नहीं होने से। मेरे समान सभी पुरुष

^१ उध्यते इति शेष ।

^२ अर्थापत्तितत्त्वमाद—प्रमाणषदविज्ञातो यत्तथो नान्यथा भवेत् अदृष्टं कल्पयेदेन सार्थापत्तिरदाहता ।

^३ उपभानतत्त्वमद—दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते त्सदृशोपराधि तत्त्वज्ञैरुपमानमिहोच्यते ।

गतिनिःशिष्य को ही द्वान्द्वयों से बचते हैं। एह उपमान भी सर्वज्ञ का बाधक नहीं है सभी पुरुषों को किसी के द्वारा विषय करने से उसी के सर्वज्ञत्व का प्रसंग आने से विषय नहीं करने में समृद्धि का विषय नहीं होने से उपमेयत्व की उत्पत्ति भी नहीं होगी। स्मरण का विषय होने पर ही उनके अपने सादृश्य की विशिष्टता होने से उपमेयत्व हो सकता है। ॥62॥

तस्माद्यत्स्मर्यते तत्त्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् । इति वचनात् ॥

इसलिए जो स्मरण किया जाता है, वह सादृश्य के कारण उपमान का विषय हो सकता है, उपमान का विषय सादृश्य या उससे युक्त ही होता है, ऐसा वचन होने से।

शब्द² प्रमाणं सकलदर्शिनः सत्ताविषयमेव “हिरण्यगर्भं प्रकृत्यं सर्वज्ञं इत्यादेस्तस्यैव श्रवणात् । न च प्रत्यक्षादेर्भावविषयत्वं भावप्रमाणकल्पना वैकल्प्यप्रसंगात् । भवत्वभावादेव प्रमाणात्सर्वज्ञस्याभावप्रतीतिः, स च लद्विषय प्रत्यक्षादिनिवृत्तिरूपोऽनुपलंभं” इति चेत्र, तस्यात्मं संबंधिनः परचेतोवृत्ति-विशेषव्यभिचारात्, विद्यमानेष्वपि तेषु तस्य भावात् । लद्विद्यमानतायाश्य पश्चात्कुतश्चित्कार्यविशेषतोऽव्यवसायात् “सर्वसंबंधिनश्चयासिद्धेः सर्वज्ञस्याभावसिद्धौ तस्य स्वयं सर्वज्ञान्तरेणाप्युपलम्भसंभवात् । अभावसिद्धौ तस्य सिद्धचत्येव सर्वसंबंधी तदनुपलंभ इति चेत्, न । सिद्धात्ततः तदभावसिद्धिस्तततश्च तस्मिद्दिरिति परस्पराश्रयोपनिषदात् । अन्यवस्तुनि विज्ञानं तर्हि तदिति चेत्, किं तदन्यद्वस्तु? नियतो देशादिश्चेत्, न । ततस्तत्र तदभावस्येष्टत्वात् [सर्व इति चेत्र तज्ज्ञानवतः सर्वज्ञत्वप्रसंगात् । अतो न कुतश्चिदप्यभाववेदनं सकलवेदिन इति सिद्धं तस्य निर्बाधप्रत्ययविषयत्वं । नापि हेतोराश्रयासिद्धत्वमतः³ प्रागपि सकलज्ञप्रतीतेः प्रतिपादितत्वात्] यथेव किमनेनेति थेत्रात्सतत्सर्वव्यवस्थापनात् । “प्राकृत्या तु तत्प्रतीत्या नित्यानित्यत्वविकल्पसाधारणस्य शब्दस्यैव सदसत्य विकल्पसाधारणस्यैव तस्योपदर्शनात् । न चाश्रयबलाद्वेलोर्गमकल्पं यतस्तद्विहितत्वं तस्य दोषः स्यादपित्वन्यथानुपपत्तिसामर्थ्यात् [तच्चननश्रयत्वेऽपि⁴, निवेदयिष्यते चैतत् ।] ॥63॥

¹ विषयं ।

² शब्दलक्षणं यथा—शब्दाद्यद्वितीं ज्ञानमप्रत्यक्षेऽपि वस्तुनि शब्दं तदिति मन्यते प्रमाणंतरवदिनः ।

³ प्रत्यक्षादेरनुस्पत्ति: प्रमाणानाम द्व्यतीते सात्मनो परिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि । ॥ । प्राभाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते वस्तुसत्यावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणात् ॥२ ॥

⁴ नास्ति सर्वज्ञोऽस्मद्वित्यक्षादिप्रमाणैरनुपलम्भमानत्यात् ।

⁵ प्राभाकरमते सर्वज्ञाभाधकप्रमाणाभावं प्रतिपाद्य, भाष्मनतमिदानीमाह ।

⁶ प्रत्यक्षाद्यनुपलम्भस्य ।

⁷ अस्मादनुमानात् ।

⁸ पूर्वस्मिन् जातया ।

⁹ घर्मसाधनात्यहेतुस्वरूपनिकलपणादस्ते ।

शब्द प्रमाण सर्वज्ञ का सत्ता विषय है। हिरण्यगमने प्रकृत्य इत्थादि उसी से (शब्द प्रमाण से ही) सुने जाने से प्रत्यक्षादि के अभाव विषय नहीं है, भावप्रमाण की कल्पना के व्यर्थ होने का प्रसंग होने से भाट मतावलम्बी कहते हैं—अभाव प्रमाण से ही सर्वज्ञ के अभाव की—प्रतीति होती है, वह प्रत्यक्षादि से उस विषय का निवृत्तिरूप अनुपलंभ है, “नास्ति सर्वज्ञोऽस्मत्प्रत्यक्षं प्रमाणैरनुपलभ्यमानत्वात्” यह कहना भी ठीक नहीं है, अनुपलभ्यमान हेतु आत्मसंबंधी है, दूसरे की चित्तवृत्ति विशेष से वह व्यभिचारी है, सर्वज्ञ के सद्भाव में भी आत्मसंबंधी अनुपलंभ होने से सर्वज्ञ की विद्यमानता का बाद में किसी कार्यविशेष से निश्चय होने से प्रत्यक्षादि से अनुपलभ्यमान हेतु सर्व संबंधी सिद्ध नहीं हो सकता। सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि नहीं होने पर उसके स्वयं दूसरे सर्वज्ञ के रूप में उपलब्ध होने की समावना होने से सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि होने पर सभी के द्वारा उसका उपलब्ध न होना सिद्ध ही होता है, यह कहना ठीक नहीं है। सर्वसंबंधी अनुपलंभ सिद्ध हो लब सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि हो और सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि हो तब सर्वसंबंधी अनुपलंभ सिद्ध हो इस प्रकार इतरेतसाश्रय दोष का प्रसंग होता है। अन्य वस्तु में उसके अभाव का ज्ञान है यदि यह कहते हो तो वह अन्य वस्तु क्या है? नियतदेशादि कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि नियत देशादि में तो सर्वज्ञ का अभाव हमें भी इष्ट है। इसमी देशादि यह नहीं कह सकते, सभी देशादि में सर्वज्ञ के अभाव को जानने वाले को ही सर्वज्ञत्व का प्रसंग होने से अतः किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ के अभाव का ज्ञान नहीं होता, इसलिए सर्वज्ञ का निर्याधज्ञान विषयत्व सिद्ध होता है हेतु आश्रयसिद्ध भी नहीं है, इससे पूर्व भी सर्वज्ञ की प्रतीति को? प्रतिपादित किया जाने से। यदि पहले ही सर्वज्ञ की प्रतीति का प्रतिपादन किया जा चुका है तो फिर इस अनुमान की क्या आवश्यकता है, यह कहना ठीक नहीं है, इससे उसके सद्भाव का व्यवस्थापन होने से पहले ही उसकी प्रतीति से नित्य अनित्य विकल्प साधारण शब्द के समान सत् असत् साधारण विकल्प को ही दिखाया जाने से। आश्रय के बल से भी हेतु को गमकत्व नहीं है जिससे बाधा रहितत्व उसका दोष हो अपितु अन्यथा नुपर्यति की सामर्थ्य से हेतु गमक है, वह आश्रय के बिना भी हो सकता है, यह धर्म साधन नामक हेतु का स्वरूप छताते समय बताया जायेगा। ॥६३॥

भवतु कश्यत्सर्वज्ञः सतु भगवान्हर्त्रेवेति कुतः? सुगतादेशपि तत्त्वेन प्रसिद्धेरिति वेत, उच्यते भगवान्हर्त्रेव सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्तेः। तथाहि— सुगतस्य तावत्रिविकल्पकं वेदनं, न तेन सुषुप्तादिवेदनवद्वस्तुपरिच्छित्ति। अत्यामपि तस्यां न सर्वविषयत्वं कारणस्यैव विषयत्वोपगमात्^१। न च कारणभेद सर्व तस्य समसमयस्योत्तरसमयस्य चाकारणत्वात्। अन्यथा ‘प्राभावः सर्वहेतुना’ मिल्यस्य व्यापत्ते^२ न चैकस्वभावत्वे ततो नानार्थपरिच्छित्तिर्नित्यादप्येकस्वभावादेव हेतोदेशादिभेदभिन्नानेकवस्तुप्रादुर्भावोपनिपातेन तत्रिष्ठाभावप्रसंगात्। प्रतिव्यक्तितदाभिमुख्यामावे पृथगर्धदेशनानुपपत्तेश्च ॥६४॥

विषेषी कहते हैं—मान लो कि कोई सर्वज्ञ है किंतु वह भगवान अहंत ही है, यह कैसे जाना सुगतादि को भी सर्वज्ञत्व के रूप में प्रसिद्ध होने से। यदि ऐसा कहते हो तो कहते हैं—भगवान अहंत ही सर्वज्ञ है, सर्वज्ञत्व अन्यथा नहीं होने से सुगत का तो

^१ साक्षात् विषय इति।
^२ विनाशत्।

निर्विकल्प ज्ञान है उससे सुषुप्तादि के ज्ञान के समान वस्तु का ज्ञान नहीं होता। परिच्छिति होने पर भी सब वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता, कारण को ही विषय भाना ज्ञान से। सभी कारण नहीं हैं समसमय और उत्तर समय को अकारण होने से। अन्यथा “प्राञ्चाम् सर्वहेतुनां” इसका विशेष हो जायगा। निर्विकल्पक ज्ञान के एक स्वभाव याला होने से उसका अनेक अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, नित्य एक स्वभाव याले हेतु से भी देशादि मिन अनेक वस्तु की उत्पत्ति का प्रसंग होने से, उसके निषेध के अभाव का प्रसंग होने से।

प्रति व्यक्ति की प्रतिपदार्थ की मुख्यता के अभाव में पृथक अर्थ के उपर्देश को भी नहीं होने से। ॥६४॥

‘भवत्येकमनेकस्वभावमेव तद्वेदनं युगपत्रानाकारतया स्वतस्तस्य
२ लौदेदनादिति वेदः। कमेणापि ताद्रूपतया तस्य तत एव प्रतिपत्तिसंभवात्
३ तादृशसंवेदनात्मा भगवान्हर्वेव न सुगतस्तस्य तद्विलक्षणतया
तद्वादिभिरभ्यनुज्ञानात्। तत्र सुगतस्य सर्वज्ञत्वं नापि हरिहरादीनाभन्यतमस्य
तद्वेदनस्यापि सकलविषयस्य प्रत्यर्थमाभिमुख्याभावे सतीदंतयेदतया
वस्तुपरिच्छित्तेरनुपपत्त्या तथा तदेशनाभावप्रसंगात्। प्रतिव्यक्त्यभिमुख्यतया तस्य
मेवकत्वे च कमेणापि ताद्रूप्योपपत्त्या पूर्ववदर्हत एव तादृश एवात्मा
सर्वज्ञत्वोपपत्तेः। नेष्वरादेस्तस्य तद्रूपतया परैरनभ्युपगमात्। ततो नैकस्याप्य-
कांतवादिनः सर्ववेदित्यभित्युपपत्रमर्हत एव भगवतस्तद्वेदित्यं, तत्रैव स्याद्वादन्याय
नायके जगदुदरविवरवर्त्तिनिरवशेषपदार्थसार्थसाक्षात्करणस्याकृणस्याध्यक्षस्य
तस्योपपत्तेरितरत्र विपर्यासादिति। ॥६५॥

सौगत कहते हैं—एक तथा अनेक स्वभाव याला उनका ज्ञान हो यही मान लो, एक साथ नाना आकार रूप से स्थित उसकी प्रतीति होने से यह कहना भी ठीक नहीं है, कर से भी भाना आकार रूप से उसको उसी ज्ञान से प्रतिपत्ति की संभावना होने से। कम और युगपत् रूप से अनेक रूप का भवेदन करने वाले भगवान अर्हन्त ही हैं, सुगत नहीं है उसको उससे विलक्षण रूप से सौगत के द्वारा स्वीकार किये जाने से। अतः सुगत सर्वज्ञ नहीं है, न हरिहरादि में से ही कोई सर्वज्ञ है, उनके ज्ञान को सकल विषयों के प्रति मुख्यता के अभाव में इदंतया इदंतया वस्तु का ज्ञान न होने से। उस प्रकार उनके उपर्देश के अभाव का प्रसंग होने से प्रति व्यक्ति की अभिमुख्यता से हरिहरादि के ज्ञान का अस्पष्ट होने पर कम से भी उसी प्रकार उनके उपर्देश को उपपत्ति होने से पहले के समान (अशेष घातिया कर्मरूपी भल के कथ से यथार्थ वस्तु को जानने वाले अतिशय निर्मल झन वाले) भगवान अर्हन्त को ही सर्वज्ञत्व का उपपत्ति होने से ईश्वर को सर्वज्ञत्व नहीं है उसको उक्त प्रकार का पर मताबलविद्यों के द्वारा भी भाना जाने से। अतः किसी भी एकान्तवादी को सर्वज्ञत्व भी मिल नहीं होता। अतः भगवान अर्हन्त को ही सर्वज्ञत्व मिल होता है उन्हीं स्याद्वाद न्याय के नायक भगवान अर्हन्त में संसार में रहनेवाले संपूर्ण पदार्थ के

^१ सुगतः।

^२ प्रतीतिः।

^३ कमरौगपद्याभ्यामनेकरूपसंवेदनात्मा।

^४ पूर्णरूप।

उसकी स्वभाव सहित साकार्त्कार करने में दक्ष संपूर्ण प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होने से, अन्यत्र इत्या नहीं होने से । ॥६५॥

मुख्यसंव्यवहाराभ्यां प्रत्यक्षं यन्त्रिलपितम् ।
देवैस्तस्यात्र संक्षेपान्निर्णयो वर्णितो मया ॥

मुख्य और व्यवहार के भेद से जो देव (अनन्त धीर्घ) के द्वारा प्रत्यक्ष का वर्णन किया गया है, यहां मेरे द्वारा संक्षेप में उसके निर्णय का वर्णन किया गया है।

इति श्रीमद्वादिराजसूर्यशिष्टस्माणनिर्णये अस्पष्टिरिंगः ॥

इस प्रकार श्रीमद्वादिराज सूरि प्रणीत प्रमाण निर्णय ग्रन्थ में प्रत्यक्ष निर्णय प्रकरण समाप्त हुआ ।



संप्रतिपरोक्षस्य प्रमाणनिर्णयः ।
(अब परोक्ष प्रमाण का निर्णय)

तत्त्व तस्य परोक्षत्वं न सामान्यविषयत्वं, सामान्यस्य निर्विशेषस्य^१ क्षयविद्यनवलोकनात् । सविशेषे तु तद्विषयत्वं तु प्रत्यक्षत्वेऽपि । नापि विशेषलोकनवलोकनात् प्रमाणस्य निराकारस्यैव प्रतिपत्तेः । अत एव तदाकारतया^२ तत्त्वं उत्पत्तिरपि मिथ्याज्ञान एव च तदा तदुत्पत्तिरपि^३ संभवेत्र प्रमाणे । तस्मादेतरं गमलविशेषविशेषोदयनिबंधनः कश्चिदस्पष्टत्वापरनामा स्वानुभववेद्यः प्रतिभासविशेष एव तस्य परोक्षत्वं । ॥६६॥

यह प्रमाण का परोक्षत्व सामान्य विषयत्व नहीं है। विशेष रहित सामान्य का कहीं भी अवलोकन नहीं होने से। विशेष सहित सामान्य का विषयत्व प्रत्यक्ष में भी है। अस्पष्ट विशेषकारत्व भी नहीं है, निशकार प्रमाण की ही प्रतिपत्ति होने से। अतः विषय से विशेषकारतया उत्पत्ति भी नहीं होती, मिथ्या ज्ञान में ही उसकी उत्पत्ति हो सकेगी, प्रमाण में नहीं। अतः अन्तरंग मल के विशेष विशेष के उदय के कारण होने वाला कोई अस्पष्टत्व अपर नाम वाला अपने अनुभव से जानने योग्य प्रतिभास विशेष ही प्रमाण का परोक्षत्व है ॥६६॥

१. विशेषपदार्थसहितसामान्यविषयत्वं भवति ।

२. अस्पष्टविषयाकारत्वं ।

३. विषयाकारतया ।

४. विषयात् ।

५. केवल प्रतिपत्तिरेत् ।

तच्च द्विविधमनुमानमागमश्चेति अनुमानमपि द्विविधं गौणमुख्यं विकल्पात्। तत्र गौणमनुमानं त्रिविधं, स्मरणं प्रत्यभिज्ञा तर्कश्चेति इत्यचानुमानत्वं यथापूर्वमुत्तरोत्तरहेतुतयाऽनुमाननिबंधनत्वात्। तत्र^१ किमिदं स्मरणं नाम? तदित्यतीतावमासी प्रत्यय इति चेत्, न^२ तर्हि तस्य प्रत्यक्षपूर्वकत्वं तदवृगृहीतविषयत्वे सत्येव लदुत्पत्तेः। नियातीतस्य तदवगृहीतत्वमिति चेत्सत्यम् एव तस्यापूर्वार्थत्वोपपादनात्। तत्पूर्वकत्वं तु तस्य नीलधबलादिना तद्विषयस्यात् तेनापि ग्रहणात्। एवमपि^३ कथं तस्य प्राभाण्य? अविसंवादगत्य विषयप्राप्तिलक्षणस्य तत्राभावात्, सोऽपि प्राप्तिकाले तस्यासंनिपातादिति यत् प्रत्यक्षस्यापि कथं? तद्विषयस्यापि तत्काले संनिपाताभावात्। भावे स्मरणविषयस्यात् स्यात्। निषेपादेस्तद्विषयस्यापि प्राप्तिप्रतीतेः। ततो युक्तमविसंवादतत्त्वं प्राभाण्यम् ॥६७॥

यह परोक्ष प्रमाण दो प्रकार का है—अनुमान और आगम। अनुमान भी उप्रकार का है—गौण और मुख्य के भेद से। गौण अनुमान भी तीन प्रकार का है, स्मरण प्रत्यभिज्ञान और तर्क। गौण अनुमान को पूर्वपूर्व को उत्तरोत्तर का हेतु होने के साथ अनुमान का कारण होने से अनुमानत्व है। सौमत् पृष्ठते हैं—स्मरण क्या है? वह इस प्रकार अतीत को प्रकाशित करने वाला ज्ञान है, यदि यह कहते हो तो यह प्रत्यक्ष पूर्वक नहीं है। सकता, प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहीत विषय में ही स्मरण की उत्थति होने से। अतीत को प्रत्यक्ष के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता। यदि यह कहते हो तो ठीक ही है, इसलिये तो उसे अपूर्वकों जाननेवाला कहा गया है। स्मरण को प्रत्यक्षपूर्वकत्व इसलिए है कि भीलधबलादि के हाथ प्रत्यक्ष के विषय को ही स्मरण भी ग्रहण करता है। नीलधबलादि स्वरूप के होने पर भी उसको (स्मरण को) प्रमाणता कैसे है? विषय की प्राप्ति स्वरूप अविसंवादन का यहां अभाव होने से प्राप्ति के समय विषय के नहीं रहने से अविसंवादन रूप प्राप्ति लक्षण का अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा कहते हो तो प्रत्यक्ष को भी कैसे प्रमाणता है? उसके विषय को भी (तुम्हारे भतानुसार) प्रत्यक्ष के समय नहीं होने से होने पर स्मरण के विषय को भी हो जायगा। उसके विषय निषेपादि की प्राप्ति की प्रतीति होने से। अतः अविसंवाद के कारण स्मरण की प्रमाणता ठीक ही है। ॥६७॥

तथा प्रत्यभिज्ञानस्य, तस्यापि पूर्वापरप्रत्ययाप्रतीता^४ भेदसार्दृश्यादि विषयत्वेनापूर्वार्थत्वादविसंवादाच्च। प्रत्यभिज्ञानमेव^५ नास्ति, सोऽयमित्ययमिव

^१ मुख्यानुमाननिबंधनत्वात्।

^२ तेषु स्मरणादिषु।

^३ सौमत्: पृष्ठति।

^४ सौमतो वदति।

^५ ज्ञातविषयत्वे।

^६ प्रत्यक्षानवगृहीतविषयत्वादेव।

^७ नीलधबलादिस्वरूपेणाऽपि।

^८ एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य।

^९ सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्य।

^{१०} बौद्धो वदति।

स इत्यादी स इत्यमित्यनयोः स्मरणप्रत्यक्षाकारतयाभिन्नप्रतिभासत्वेन परस्परतोऽर्थातरत्वादन्यस्य च तदाकारस्याप्रतिवेदनात् कथं तत्र प्रामाण्यपरिचितम्। इति चेन्न तर्हि स इतिस्मरणमपि सकारानुविद्धादकारानुविद्धस्य संवेदनस्यान्यत्वात्। अन्यथा तदुभयानुविद्धतया प्रतिभासभेदस्याभावप्रसंगादक्षणिकत्वापत्तेश्च। एवम्यमित्यत्राऽपि प्रतिपत्तव्यं। तथा च कुतो वस्तुप्रतिपत्तिरथमिति प्रत्यक्षस्याव्यवस्थितौ तत्पूर्वकत्वेनानु-मानस्याप्यसंभवात्। अथाऽयमित्यकारादिवर्ण भेदेऽपि तदनुविद्धमेकमेव संवेदनं तथैव तस्य निर्बाधमनुभवात्, तर्हि सिद्धः स एवाऽयमित्यादिरपि प्रत्यय एक एव तथा तस्यापि निर्बाधावबोधगोचरत्वात्। अन्यथा समारोपस्यापि तदूपस्याभावात्र तद्व्यवच्छेदार्थभनुमानमात्मदर्शनस्य तल्लक्षणस्याभावात्र तन्निर्बन्धनः संसारोऽपीति न तत्प्राहाणाय मुमुक्षुणां चेष्टितमुपपद्यते ॥६८॥

प्रत्याभेदान का भी प्रबन्ध होता है, उसको भी ऐसे अपर प्रत्यय से अप्रतीत एकत्व सादृश्य आदि को विषय करने से अपूर्व अर्थ वाला तथा अविसंबद्धादी होने से बोहूद्ध कहते हैं—प्रत्यभिज्ञान ही नहीं है, वह यह है, इसके समान वह है इत्यादि में वह तथा यह इन दोनों में स्मरण तथा प्रत्यक्ष रूप से भिन्न प्रतिभास होने से परस्पर एक दूसरे से भिन्न होने के कारण लदाकार का प्रतिवेदन नहीं होने से उसमें प्रभागता की कल्पना कैसे की जा सकती है। आशार्य कहते हैं—यह कहना ठीक नहीं है। तब 'स' यह स्मरण भी नहीं होगा। सकार से युक्त ज्ञान से अकार से युक्त ज्ञान के भिन्न होने से कमोच्चारित अनेक वर्णों से युक्त होने के कारण भिन्न प्रतिभासमान ज्ञान को एक मानने पर उस एक के अनेकाकाशर व्यापित्व होने से अक्षणिक का प्रसंग आयेगा। इसी प्रकार 'अयम्' इस प्रत्यक्ष में भी ज्ञानना चाहिये। फिर वस्तु की प्रतिपत्ति कैसे होगी? 'अयम्' इस प्रत्यक्ष के अव्यक्तस्थित होने पर प्रत्यक्षपूर्वक होने के कारण अनुमान भी नहीं हो सकेगा। यदि 'अयम्' यहाँ अकाशदि वर्ण भेद होने पर भी उससे युक्त एक ही संवेदन होता है, उसी प्रकार उसका निर्बाध अनुभव होने से तब 'स एकायम्' इत्यादि ज्ञान भी सिद्ध हो जाता है एक ही वस्तु में उसका निर्बाध ज्ञान होने से ॥६८॥

भवतु स एवायमिति ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमयमिव स इत्यस्माद्विसदृशः स इति तु ज्ञानं न प्रत्यभिज्ञानं तस्योपमानत्वादिति चेत्, तर्हि तदस्मादुत्तमवनत्य स्थूलमत्यं हस्ते दीर्घमित्यादिज्ञानानामुपमानत्वस्याभावात् कथं न प्रमाणातरत्वं? 'प्रतिपत्रस्यैवापेक्षोपनीतेनोक्ततत्वादिना परिवृत्य परिज्ञानेन प्रत्यभिज्ञानत्वस्यैव तत्रोपपत्तिरिति चेत्, सिद्धमुपमानस्यापि प्रत्यभिज्ञानत्वं, तेनाऽपि तथा तस्य तादृशेनैव सादृश्यादिना परिज्ञानात् ॥६९॥

¹ सोऽयमित्याकारवेदनस्य ।

² कमोच्चारितानेकवर्णनुविद्धतया भिन्नप्रतिभासात्मनो ज्ञानस्यैकत्वान्युपर्याप्ते तस्यैकस्यानेकाक्षरश्यापित्वस्यावश्यंसाकारदक्षणिकत्वापत्तिरित्यर्थः ।

³ मत्यष्टेऽपि ।

⁴ परिज्ञानत्ववस्तुनः ।

अन्यथा तद्रूप समारोप का अभाव होने से उसका निराकरण करने के लिये अनुमान भी नहीं होगा। आत्म दर्शन रूप उस लक्षण का अभाव होने से उसके कारण होने वाला संसार भी नहीं होगा, फिर उस संसार को नष्ट करने के लिए मोक्षार्थियों की चेष्टा भी नहीं होगी।

भीमांसक कहते हैं— “स एवाय” इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान भाव भी लें किंतु ‘अयमिव के समान वह अथवा इससे विलक्षण वह है यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान नहीं है उसके उपमान होने से। यहि इज्ञा कहते हैं—तत् इन्ने ज्ञान है, या अहन्त है स्थूल है अल्प है, हङ्गम है, दीर्घ है इत्यादि ज्ञान के उपमानत्व का अभाव होने से दूसरा प्रमाण क्यों नहीं माना जायगा? ज्ञात वस्तु की अपेक्षा जाने गये उन्नतत्व आदि से युक्तज्ञान से वहाँ प्रत्यभिज्ञानत्व की ही उपरपति होती है यदि यह कहो तो उपमान को भी प्रत्यभिज्ञानत्व सिद्ध ही है। उसके द्वारा भी उस प्रकार उसके समान ही सादृश्यादि से ज्ञान होने से। ॥६९॥

^१भवतु तर्हि गौरिव गवय इत्यागमाहितसंस्कारस्य^२ पुनर्गवयदर्शने सोऽयं गवयशब्दस्यार्थ^३ इति शब्दतदर्थसंबंधपरिज्ञानमुपमानमिति येत् न, तत्राऽपि सामान्यतः प्रायागमावगतस्यैव पुनः सत्रिहितविशेषविशिष्टतया परिज्ञानतः प्रत्यभिज्ञानत्वस्यैवोपपत्ते। अन्यथा षडिमः चरणैश्चयरीकः, क्षीरनीरविवेचनचतुर चंचुविंहंगमो हंसः, एकविषाणो मृगः खद्गीतिवचनोपजनितवासनस्य पुनस्तद दर्शने सोऽयं चंचरीकादिशब्दस्यार्थ इति वाच्यवाचकसंबंधपरिज्ञानस्याप्यु— प्रमाणवदप्रत्यभिज्ञानत्वे प्रमाणांतरस्य प्रमाणच्च तुष्टयनियमव्याघातविधायिनः प्रसंगात्। तत्र प्रत्यभिज्ञानादन्यैवुपमानमित्युपपत्तं प्रत्यभिज्ञानतयैव तस्यापि प्रामाण्यम् ॥७०॥

वैद्यायिक कहते हैं कि फिर तो गौ के समान गवय होता है इस प्रकार आगम से संस्कार प्राप्त पुरुष के पुनः गवय को देखने पर वह यह गवय शब्द का अर्थ है इस प्रकार शब्द और उसके अर्थ के संबंध का ज्ञान उपमान है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। वहाँ भी सामान्यतः यहले आगम से जाने हुए का ही बाद में प्राप्त विशेष का विशिष्ट ज्ञान होने से प्रत्यभिज्ञानत्व की ही उपरपति होने से। अन्यथा छः चतुरणों वाला भौंरा है, क्षीर नीर का ज्ञान करने में प्रदीप घोंब वाला पक्षी हंस है, एक शूँग वाला हिरण है, यह तलवार वाला है, इत्यादि वचनों से उत्थन्न संस्कार वाले व्यक्ति के पुनः उसके देखने पर यह यह चंचरीकादि शब्द का अर्थ है, इस प्रकार वाच्य वाचक संबंध ज्ञान के भी उपमान के समान प्रत्यभिज्ञानयना नहीं होने से दूसरे प्रमाण को मानना घड़ेगा जिससे आप द्वारा मान्य प्रत्यक्ष, अनुभाव, उपमान और आगम के भेद से चार प्रमाण के नियम का व्याघात होगा। अतः प्रत्यभिज्ञान से भिन्न उपमान नहीं है इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान के रूप में उपमान को भी प्रमाणता सिद्ध हो जाती है।

^१ नैद्यायिको वदति ।

^२ पुंश इति शेषः ।

^३ वरसुनः ।

^४ प्रत्यक्षनुमानोपमानागमभेदत् ।

^५ सादृश्याभैर्नोपमानेऽप्यांतर्भावाभावात्, प्रसिद्धसाध्यात्साध्यसाधनमुपमानमिति शब्दमेषापिद्यनात् ।

तर्कश्चेत्थमेव संमवति नानित्यभिति व्याप्तिपरिज्ञानात्मा, प्रमाणं, विना तेन
लिंगसाध्याविनाभावस्य दुरवबोधत्वात्। न हि प्रत्यक्षतस्तस्यावबोधस्तेन
‘सनिहितविषयबलभाविना देशकालानवच्छेदेन’^२ तस्यानवगमात्। तददृष्टेदेन—
वगतात् ततो नानुभानमन्यत्राऽन्यदा तदभावेऽपि तद्वशंकनस्यानिवृत्तेः^३

तर्क भी ऐसा ही हो सकता है, दूसरे प्रकार का नहीं इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान
कराने वाला प्रमाण है उसके बिना हेतु और साध्य के अविनाभाव का ज्ञान कठिन होने
से प्रत्यक्ष से तो हेतु और साध्य के अविनाभाव का ज्ञान होता नहीं, प्रत्यक्ष से चक्षु आदि से
संबद्ध वर्तमान विषय को ही जानने वाला होने से दूसरे देश और काल की बात को नहीं
जानने से देशकाल से भिन्न को प्रत्यक्ष के जानने पर अनुभान नहीं होगा।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पात् तर्हि तथा तस्यावगमः। प्रत्यक्षं पौनःपुन्येन
साधनस्य साध्यान्वयव्यतिरेकानुविधानभन्दीक्षमाणं सर्वत्र सर्वदाप्येतदेतेन बिना न
भवतीतिविकल्पकं ज्ञानमुपजनयति इति येत्र, ‘तेनाप्यप्रमाणेन तदवगमानुपस्ते:।
प्रमाणत्वमापे न तस्य’ प्रत्यक्षत्वेन विधारक्त्वातद्वतः^४ ‘सर्वदर्शित्वापसेश्च।
नाप्यनुभानत्वेनानवस्यापत्ते:। तदनुभानलिंगाविनाभावस्याव्यन्यस्मादनुभानादवगम
इत्यपरापरस्यानुभानस्यापेक्षणात्। तस्मात्प्रत्यक्षानुभानास्याभन्यतयैवायं विकल्पः
प्रमाणयितव्य, इत्युपपत्रं तस्यापि तर्काभिधानस्य प्रामाण्यम्, ‘अन्यथा लिंगसाध्या
विनाभावनियमस्य ततोऽनवगमप्रसंगात् ततो युक्तं समृत्यादेरौपचारिकस्यानुभानस्य
प्रामाण्यम्।।71।।

दूसरे देश और दूसरे काल में विषय के नहीं होने पर भी उसके होने की शक्ति
का निवारण नहीं होने से।

सौगत कहते हैं—प्रत्यक्ष के बाद होने वाले विकल्प ज्ञान से उसका ज्ञान होता
है (प्रत्यक्ष (निर्विकल्पक ज्ञान) वारबार हेतु का साध्य के साथ अन्य और व्यतिरेक को
देखते हुए सर्वत्र सर्वदा यह इसके बिना नहीं होता, इस विकल्प ज्ञान को उत्पन्न करता है,
उनका यह कहना भी ठीक नहीं है, उस अप्रमाण रूप विकल्प ज्ञान से उसके ज्ञान की
उत्पत्ति नहीं होने से विकल्प ज्ञान को सुगत के यहाँ प्रमाण नहीं माना है, निर्विकल्प को ही
प्रमाण भावा गया है और निर्विकल्प ज्ञान वाले को इस प्रकार सर्वदर्शित्व का प्रसंग आता
है। अनुभान से भी नहीं कह सकते, अनवस्था का प्रसंग होने से उस अनुभान के साधन के
अविनाभाव का अन्य अनुभान से ज्ञान होगा, इस प्रकार दूसरे दूसरे अनुभान की अपेक्षा होने

^१ अवलोबनसामर्थ्यात्, संबद्धं वर्तमानं च चक्षुरादिना गृह्णात् इति वचनात्।

^२ अनियमेन।

^३ सौगतः।

^४ विकल्पज्ञानेन।

^५ रथयं।

^६ पुरुषस्य।

^७ त्रैलोक्यवैकाल्यवर्त्यस्मदादिप्रत्यक्षामीचरे

सकलसाध्यसाध्यनव्यक्तिसाक्षात्करणवदशेषातीद्रियार्थसाक्षात्करणोपपत्तेरिति भावः।

^८ तर्कात्येन प्रामाण्याभावे।

से। इसलिए प्रत्यक्ष और अनुमान से भिन्न इस अन्य विकल्प को प्रमाण मानना चाहिये, इस प्रकार तर्क की भी प्रमाणता सिद्ध होती है। तर्क को प्रमाण नहीं मानने पर हेतु और साध्य के अविभाग्य नियम का ज्ञान नहीं होने का प्रसंग होगा। अतः स्मृति आदि को औपचारिक अनुमान की प्रमाणता ठीक ही है।। 71।।

एवं मुख्यस्यापि^१ किं तदिति चेत् साधनात्साध्ये विज्ञानमेव | साधनं साध्यादिनाभावनियमलक्षणं तस्मान्निश्चयपथप्राप्तात्साध्यस्य साधयितुं शक्यस्या^२— प्रसिद्धस्य^३ यद्विज्ञानं तदनुभावं । ॥७२॥

इसी प्रकार मुख्य अनुमान को भी विवरणित है। इसे बढ़ा देने के लिए यह कहरे ही सी साधन से साध्य का ज्ञान ही अनुमान प्रभाव है। साध्य के साथ अविनाभाव लक्षण वाला साधन है निश्चय गार्ग को प्राप्त उस साधन से अबाधित और असिद्ध साध्य को सिद्ध करने के लिए जो ज्ञान है, वह अनुमान है। ॥७२॥

किं तेनप्रत्यक्षत एव पृथिव्यादितस्तस्य प्रतिपत्तेरिति चेत्, तसोऽप्यनिश्चितप्रामाण्यात्तदनुपपत्तेः । न च प्रतीतिभात्रात्तत्रिश्चयो मिथ्याप्रतिभा- सेष्वपि तद्वावात् । अविसंवादात्तत्रिश्चयस्तस्याभ्यस्तविषयेदनेषु प्रामाण्यव्याप्त- तया प्रतिपत्तेरिति चेत्, आगतमनुमानं, निश्चितव्यादिकादर्थादर्था लस्त्राप्तेरेवानुमानत्वात् । अनुमानमन्यनुज्ञायत एव परप्रसिद्धचेति चेत्, कुतो न स्वप्रसिद्धय?वस्तुतस्तस्याप्रामाण्यादिति चेत्, न तर्हि ततः प्रत्यक्षप्रामाण्यनियमो ऽप्रमाणात्तदनुपपत्तेः । अन्यथा पृथिव्यादेरपि तत एव प्रतिपत्त्या प्रत्यक्षप्रामाण्यकल्पनस्यापि वैफल्योपनिपातात् ॥ 73 ॥

चार्चाक कहते हैं—अनुमान की क्या आवश्यकता है? प्रत्यक्ष से ही पृथ्वी आदि तत्त्व की प्रतिपत्ति होने से आवार्य कहते हैं, यह कहना सभीधीन नहीं है, अनिश्चित प्रमाण होने से प्रत्यक्ष से भी उसकी प्रतिपत्ति नहीं होने से प्रतीति मात्र से प्रमाणता का निश्चय नहीं होता, भिन्ना प्रतिभास में भी प्रतीति होने से यदि यह कहो की अविसंवाद से प्रमाणता का निश्चय होता है उसका अस्यास्त विषय के जानने में प्रमाणता की व्याप्तता रूप से प्रतिपत्ति होने से तो अनुमान ही आ गया निश्चित व्याप्ति वाले विषय से विषयान्तर की प्राप्ति को ही अनुमान होने से पर प्रसिद्धि से अनुमान माना ही जाता है यदि यह कहते हो तो स्व प्रसिद्धि से क्यों नहीं मानते? वास्तविक रूप से उसको अप्रमाण होने से यदि यह कहते हो तो उससे प्रत्यक्ष प्रमाण का निर्णय नहीं हो सकता, अप्रमाण से प्रमाणता की उपपत्ति नहीं होने से अन्यथा पृथ्वी आदि की भी उसी से प्रतिपत्ति होने से प्रत्यक्ष के प्रमाणत्व की कल्पना को व्यर्थता का प्रसंग आयेगा। ॥७३॥

¹ प्रामाण्यमिति शोष ।

^२ अवाधिलस्येति भावः।

³ प्रतिवर्षिन प्रतिअसिक्तस्य ।

‘ यावर्दिको बदलि ।

⁶ काल इंग्रियोमः ।

कुतो वा तस्याप्रामाण्यं? संभवद्व्यभिचारित्वालिंगस्य, व्यभिचरति हि
लिंगं भूयः क्वचिद्गिर्यमवत्वेनोपलब्धस्थाऽप्यन्यत्राऽन्यदा च तद्वैपरीत्येन^१
प्रतिपत्तेरिति चेत् कुतः पुनर्व्यभिचारत्वेऽपि तस्याप्रामाण्यं? तस्य^२
तत्राऽन्तरीयकतया प्रतिपत्तेरिति चेत् आयतं पुनरप्यनुमानम्^३। अतो नानुमानमंतरेण
क्षणमपि जीवनं चार्वाकस्य ॥ ७४ ॥

अनुमान प्रमाण कैसे हैं? लिंग के व्यभिचारी होने की संभावना से, लिंग कहीं—कहीं अभिचारी होता है, बार—बार शिंशपां आदि के धूक रूप में नियम से उपलब्ध होने पर भी किसी अन्य स्थान पर और अन्य समय में उसके लतादि स्थभाव से ज्ञात होने से यदि ऐसा कहते हो तो व्यभिचारी होने पर भी अनुमान अप्रमाण कैसे हैं? व्यभिचारी लिंग के अधिनाभाव रूप से प्रतिपत्ति नहीं होने से यदि ऐसा कहते हो तो पुनः अनुमान आ जाता है। अतः चार्वाक भी अनुमान के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते ॥ ७४ ॥

कुतो वा परस्य^४ प्रतिपत्तिर्यतस्तत्प्रसिद्धमनुमानस्य प्रत्यक्षत इति चेत्र,
तेजाऽमि शरीरद्वया विरिच्छेत्वात् लोयालानः पात्र्य तस्य तदमर्थातरत्वात् स एव
तस्यापि परिच्छेद इति चेत्र, शरीरप्रत्यक्षत्वेऽपि बुद्धिविकल्पे संशयात् न हि
शरीरं पश्यतः पंडितोऽयं मूर्खो वा साधुरयमसाधुर्वेति निश्चयो भवति
परीक्षानिरपेक्षं तत्संभावनापमानयोः प्रसंगात् मामूत्परस्य प्रतिपत्तिस्तत्प्रसिद्ध
मप्यनुमान^५मिति चेत्कथमनुमानाभावे शास्त्रं? तस्यानुमाने
प्रसिद्धभूतोपादानचैतन्यादि विषयत्वेन तदभावे निर्विषयत्वेनानुपपत्तेः किमर्थं वा
तत्? न तावदात्मा^६र्थमात्मनः प्रागेवावगततदर्थत्वादन्यथा तत्प्रणयनानुपपत्तेः
तादृ^७शस्यापि कीडनार्थं तदिति^८ चेत्र, विचारोपन्यासात्^९। न हि विचारः
कीडनांगं, ^{१०}कर्कशत्वेन चित्परितापहेतुत्वात्। नाऽपि परार्थं परस्याप्रतिपत्तेः।
अस्त्वेव तत्प्रतिपत्तिर्व्यापारादेलिंगातस्य बुद्धिपूर्वकत्वेन स्वशरीरे प्रतिपत्तरिति

^१ वृक्षादिस्वभावतया ।

^२ शिंशपात्वादेः ।

^३ लतादिस्वभावत्येन ।

^४ अनुमानस्य ।

^५ व्यभिचारवत्तौ लिंगस्य ।

^६ अविनाभावरूपतया ।

^७ “अनुमानमप्यभावं संभवद्व्यभिचारलिंगत्वात् प्रसिद्धानेकातिकलिंगवत् ।”

^८ इतरवापदिनः ।

^९ स्वात्कारापञ्चयोः ।

^{१०} मा भूदिति शोषः ।

^{११} शमस्त्रः ।

^{१२} अदगतशास्त्रार्थस्थाऽपि पुंसः ।

^{१३} तत् शास्त्रप्रणयनं ।

^{१४} शास्त्रे इति शोषः ।

^{१५} विचारस्योति ।

चेदागतं पुनरप्यनुमानम् अवधृतव्याप्तिकादर्थीदर्थात्सप्रतिपत्तेरेव तत्त्वात् । न^१
 चैव प्रत्यक्षादनुमानवदनुमानादर्थापत्तिरप्यन्यन्यदेव प्रमाणं सदविशेषात्^२ ।
 कथमविशेषे बहिर्व्याप्तेरनुमानस्यात्व्याप्तेश्चार्थापत्तेर्भावादिति चेत्रः ।
 अप्यनुमानेऽप्यत्व्याप्तेरेव गमकांगत्वेन ^३निवेदयिष्यमाणत्वात् । ततः
 पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति वाऽग्निरयं दाहशक्तियुक्तो
 दाहदर्शनादित्यप्यनुमानमेव नापरं प्रमाणम् ॥७५॥

इतरवादियों द्वारा जल (आत्मा) की प्रतिपत्तिविज्ञाने होती है जिससे वे अनुमान को अप्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष से, यह नहीं कह सकते प्रत्यक्ष से शरीर का ही ज्ञान होने से ज्ञानात्मक आत्मा का नहीं। आत्मा के शरीर से अभिन्न होने के कारण शरीर का ज्ञान ही आत्मा का ज्ञान है, यह कहना उचित नहीं है, शरीर के प्रत्यक्ष होने पर बुद्धि के विकल्प में संशय होने से शरीर को देखने से यह पहिला है, यह मूर्ख है, यह सज्जन है, यह असज्जन है, यह निश्चय नहीं होता, बिना परीक्षा के सम्मान और अपमान का प्रसंग आता है। शरीर से भिन्न की प्रतिपत्ति मत हो, अनुमान भी न हो यदि ऐसा कहते हो तो अनुमान के अभाव में शास्त्र भी कैसे प्रमाण होगा? शास्त्र के अनुमान में प्रसिद्ध भूत उपादान दैत्य आदि का विषय होने से, अनुमान के अभाव में निविषय होने का प्रसंग होने से शास्त्र ही नहीं होगा। और फिर वह शास्त्र किस लिए होगा, अपने लिए तो होगा नहीं, स्वयं को पहले से ही उसके अर्थ को जानने से। यदि वह स्वयं नहीं जानेगा तो उससे शास्त्र का प्रणयन नहीं हो सकेगा। शास्त्र को जानने वाला पुरुष भी क्रीड़ा के लिए शास्त्र बनाता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, शास्त्र में विचार होने से। विचार को कर्कश तथा चित्त को कष्ट देने के कारण होने से वह क्रीड़ा का अंग नहीं हो सकता। पर के लिए भी शास्त्र का प्रणयन नहीं हो सकता। पर की प्रतिपत्ति नहीं होने से पर की प्रतिपत्ति होती है, व्यापारादि हेतु से। बुद्धिपूर्वक अपने शरीर में प्रतिपत्ति होती है यदि यह कहते हो तो पुनः अनुमान आ गया। ग्रहण किये गये व्याप्ति हेतु से साध्य की प्रतिपत्ति को ही अनुमानत्व होने से। पुनः प्रभाकर मत का निराकरण करते हुए आवार्य कहते हैं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष से अनुमान प्रमाण की सिद्धि के समान अनुमान से अर्थापत्ति भी अन्य प्रमाण है, समानता होने से यह भी नहीं कह सकते। समानता कैसे है? अनुमान की बहिर्व्याप्ति होने से और अर्थापत्ति की अन्तर्व्याप्ति होने से यह कहना भी ठीक नहीं है, अनुमान में भी अन्तर्व्याप्ति के गमक होने का, आगे वर्णन किया जाने से। अतः यह पर्वत अग्नि काला है धूमकाला होने से तथा यह अग्नि याह शक्ति युक्त है, दाह (जलन) के देखने से यह अनुमान ही प्रमाण है, अन्य नहीं। ॥७५॥

^५अभावस्तर्हि प्रमाणांतरं प्रत्यक्षादादवनंतर्भावात् इति चेत् न,
^६तस्याज्ञानत्वेन प्रामाण्यस्यैवासंभवात् ज्ञानमेवासौ, भूतले तज्ज्ञानादेव^७ घटा—

^१ लिंगात् ।

^२ प्रभाकरमतमाशांक्य निराकरोति ।

^३ अर्थापत्ते ।

^४ सर्वमनेकात्मक सत्यादित्यादिसप्तविकलोदाहरणादिष्यभिदार्थमानस्त्वात् ।

^५ भाह आह ।

^६ अभावप्रमाणं ज्ञानमज्ञानं वेति विकल्पद्वय मनसि निधाय प्राह जैन ।

^७ अज्ञानस्य प्रामाण्यासंभव प्रागेव समर्थित ।

—भावस्यादगमादिलि चेत् ननु^१ तस्याभावो नाम भूतलस्य कैवल्यमेव
नापरोऽप्रतिवेदनात्तत्र^२ अ लज्जानं प्रत्यक्षमेव। न तत्कैवल्यभाग्रस्यज्ञान
—मभावज्ञानमपि तु धटो नास्त्यद्वेष्टव्यैवल्यमेव। देवा, लत्याद्वयनुर्भूमर्यमाणधटा
—विशिष्टतयोपलम्यमानतत्कैवल्यपरामर्शिनः प्रत्यमिज्ञानत्वेन तदेतरत्वानुपपत्तेः,
नाऽस्त्यत्र धटोऽनुपलब्धेर्गणकुसुमवित्याकारत्वेऽपि तस्यानुमान एवात्मावादिति
न प्रमाणांतरत्वमभावस्यापि ॥76॥

भाष्ट कहते हैं—तब अभाव प्रमाणान्तर है, प्रत्यक्षादि में उसका अन्तर्भाव नहीं होने से, यह कहना भी ठीक नहीं है। अभाव को प्रमाण मानते हो तो वह ज्ञान है या अज्ञान? यदि वह अज्ञान है तब तो प्रमाण हो ही नहीं सकेगा। यदि यह कहते कि वह ज्ञान ही है, भूतल में भूतल के ज्ञान से ही धटाभाव का ज्ञान होने से जैनाचार्य कहते हैं धट का अभाव तो केवल भूतल का होना ही है, अन्य नहीं, अन्य का प्रतिवेदन नहीं होने से। केवल भूतल के होने से ही धटाभाव का ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही है ऐसः विष्णु कहते हैं कि भूतल कैवल्य का ही ज्ञान नहीं होता अपितु धटाभाव का भी ज्ञान होता है “यहाँ धड़ा नहीं है” इस प्रकार का ज्ञान होता है यह कहना ठीक नहीं है। केवल भूतल को ग्रहण करने तथा धट से अविशिष्ट भूतल के स्वरण करने से प्रत्यमिज्ञान होने से अन्य प्रमाण की उपपत्ति नहीं होने से। “यहाँ धट नहीं है” आकाश कुसुम के समान अनुपलब्ध होने से इस प्रकार का ज्ञान होने पर भी उसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाने से अभाव को अन्य प्रमाण नहीं कहा जा सकता ॥76॥

किं लक्षणं तत्त्वहि साधनं यतोऽनुमानमिति चेत् पक्षधर्मत्वं सप्तक एव सत्त्वं विष्णो वाऽसत्त्वमेवेति त्रिलक्षणमिति ^३केचित्। तदसत्। एवं सत्युदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यस्य पक्षधर्मत्वाभावेनागमकत्वोपपत्तेस्तदभावश्च शकटे धर्मिण्युदेष्यत्वे साध्ये कृत्तिकोदस्य हेतोऽभावात् नायं दोषः, कालस्य धर्मित्वात्तत्र च तद्वावात् तथा अ प्रयोगो मुहूर्तपरिमाणः कालः शकटोदयवान् भवति कृत्तिकोदयत्वात् प्रवृत्ततत्कालवदिति चेत्र, ^४एवमप्ययस्कारकुटीररधूमेन पर्वतपावकस्यानुमानापत्तेस्तदुभयगर्भस्य विस्तारिणः पृथिवीतलस्य धर्मित्वेन हेतोः पक्षधर्मत्वोपपत्तेः नाय^५ दोषस्तस्य तदविनाभावनियमाभावादिति चेत् न तर्हि कालादिधर्मिकल्पनयाऽन्यत्रापि^६ पक्षाधर्मत्वोपपादनेन ^७किंचित्सतोऽपि तस्य

^१ विज्ञानं याऽन्यवस्तुनि।

^२ जैनो वदति।

^३ धटाभावरय भूतलकैवल्ये सति।

^४ “गृहीत्वा कस्तुसदावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनं प्राप्तसं भारितशज्ञानं जायतेषानपेक्षाया”।

^५ उपलभ्यमानभूतलकैवल्ये पश्चात्समर्थमाणधटाविशिष्टताया खरिवृत्य जानीत इत्यर्थः।

^६ बौद्धः।

^७ मुहूर्फरिमाणकाले धर्मिण्यपि।

^८ सद्युभयगर्भ विस्तारि भूतलं पर्वताग्निमत् अयस्कारकुटीररधूमवत्तादिति।

^९ उद्येष्यति शकटं कृत्तिकोदयादित्यत्राऽपि।

गमकत्वं प्रत्यनगत्वात् । नाऽपि सप्तकं सत्येन, विनाऽपि तेन^१ केवलव्यतिरेकिणो गमकत्वनिवेदनात् । नाऽपि विपक्षासत्येनासद्विपक्षस्यापि सर्वमनेकांतात्मकं सत्यादित्यादेः स्वसाध्यप्रत्यायनसामर्थ्यस्याग्रे निरूपणात् नाऽपि पक्षधर्मत्वादि त्रयेण, सत्यपि तस्मिन् सः इयामस्तत्पुत्रत्वादितरतपुत्रवदित्यत्र^२ तत्पुत्रस्यागम—कत्वात् । अस्ति हात्र तत्त्वितयं धर्मिणि सपक्षे च इयामे तत्पुत्रत्वस्य भावादश्यामादन्यपुत्रादपृत्तेश्च ॥ ७७ ॥

साधन का क्या लक्षण है, जिससे अनुमान होता है, यह पूछने पर बौद्ध कहते हैं— पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्य तथा विपक्ष में असत्य इन तीन लक्षणों वाला हेतु होता है । आत्मार्थ कहते हैं बौद्धों का यह कथन समीचीन नहीं है । ऐसा होने पर रोहिणी का उदय होगा, कृतिका का उदय होने से, यहाँ पक्षधर्मत्व का अभाव होने से हेतु गमक नहीं होगा । यहाँ पक्षधर्मत्व का अभाव है, रोहिणी धर्मी में उदय होने वाले साध्य में कृतिकोदय हेतु का अभाव होने से बौद्ध कहते हैं यह दोष नहीं है, काल को धर्मी होने से काल में उद्देश्यति साध्य का सद्भाव होने से । ऐसा प्रयोग करना चाहिये । मुहूर्त के बाद का समय रोहिणी उदय से युक्त होगा, कृतिका का उदय होने से घटले देखे हुए रोहिणी के उदय के समान । यह भी ठीक नहीं है, मुहूर्त परिमाण काल के धर्मी होने पर भी लोहार की कुटिया के धुएं से पर्वत में अग्नि के अनुमान का प्रसंग आने से दोनों ही जगह की पृथ्वी को धर्मी होने से हेतु को पक्षधर्म होने से यह दोष नहीं है, अविनाभाव नियम का अभाव होने से दोष है, यदि यह कहते हो तो कालादि धर्मी की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं है । उद्देश्यति शकटं कृतिकोदयतः । यहाँ भी पक्ष धर्मत्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है, पक्षधर्म के किंचित् होने पर भी गमकत्व के प्रति उसके निष्प्रयोजन होने से उपक्ष में होना भी हेतु का लक्षण नहीं है, सपक्ष में नहीं होने पर भी केवल व्यतिरेकी हेतु को गमकत्व बताया जाने से विपक्ष में असत्य भी हेतु का लक्षण नहीं है, विपक्ष के न होने पर भी “सर्वमनेकांतात्मकं सत्यात्” इत्यादि को अपने साध्य को सिद्ध करने में भावर्थता का आगे निरूपण किया जाने से पक्षधर्म, सपक्षसत्य और विपक्ष असत्य इन तीनों से भी कोई प्रयोजन नहीं है, इन तीनों के होने पर भी “सः इयामः तत्पुत्रत्वादितरतपुत्रवत्” इस अनुमान में तत्पुत्रत्वात् हेतु साध्य को सिद्ध नहीं करता पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्य तथा विपक्षे असत्य ये तीनों बातें धर्मी तथा सपक्ष के इयाम होने में तत्पुत्रत्व हेतु होने से किन्तु किसी अन्य पुत्र के अश्याम भी होने से तत्पुत्रत्व हेतु को गमक नहीं होने से ॥ ७७ ॥

स्यान्मतं न पक्षधर्मत्वादिकं साक्षात्लक्षणं लिङ्गस्याविनाभावस्यैव तथा तत्वात्स्य तु तत्रैव^३ भावात् तदपि तल्लक्षणत्वेनोक्तं, “ततोऽविनाभावविरहेऽपि तद्वाको न दोषाय तद्वादिन्” इति, तत्र प्रत्येकं पक्षधर्मत्वाद्यमावेऽप्यविनाभावस्य

^१ सर्वं जीवचक्रीरं सात्मकं प्राणादिमत्वात् व्यतिरेके भस्मवदित्यस्य, सर्वं क्षणिकं सत्यात् तत्र खरविकाणवदित्यस्य ।

^२ ज्ञापन ।

^३ अनुमाने ।

^४ व्यापृते ।

^५ तत्प्रभन्सत्यैव ।

^६ “तस्य शु तत्रैव भावा” दित्यनेनाविनाभावस्य व्याप्त्यस्य पक्षधर्मत्वादिकस्य व्यापकत्वं आभिहिलं यतः ।

^७ सौगतस्य ।

निरूपितत्वात्तस्मुदायेन तदभावेऽपि संति प्रमाणानीष्टसाधनादित्यादौ तद्वावासन्न
त्रैरूप्यं साधनलक्षणम् । ७८ ॥

शाशद यह कहा कि हेतु का पक्षधर्मत्वादि साक्षात् लक्षण नहीं है, अविनाभाव ही साक्षात् लक्षण है। अविनाभाव के पक्षधर्मत्वादि के होने पर ही होने से पक्षधर्मत्वादि को भी हेतु का लक्षण कहा है। अतः अविनाभाव के बिना भी त्रैरूप्य का होना सीमत के लिये दोष का कारण नहीं है। पक्षधर्मत्वादि प्रत्येक के अभाव में अविनाभाव को निरूपित करने से तथा तीनों के समुदाय रूप में अभाव होने पर भी "संति प्रमाणानीष्टसाधनात्" इत्यादि में अविनाभाव के होने से। अतः त्रैरूप्य हेतु का लक्षण नहीं है । ७८ ॥

नाऽपि पांचरूप्यं तत्राऽप्यविनाभावस्यानियमात् । पक्षधर्मत्वे सत्यन्वय—
प्रतिरेकावबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं च पांचरूप्यं न चेह तत्रियम्, प्रकृते
हेतु तदभावेऽपि तद्वावात्, तत्पुत्रादौ तद्वावे तदभावादस्ति हि तत्पुत्रत्वस्य
पक्षधर्मत्वमन्वयव्यतिरेकावबाधितविषयत्वमपि सः श्याम इति पक्षस्य प्रत्यक्षादिना
साधानुपलब्धेरसत्प्रतिपक्षत्वमपि श्यामत्वविपर्यगसाधनस्य प्रत्यनुभानस्याप्रतिपत्तेः ।
तत्र त्रैरूप्यादिकं लक्षणं लिङ्गस्य साध्याविनाभावनियमस्यैव तत्त्वोपपत्तेः । संति
तत्रिये त्रैरूप्यादिभाववत्तदभावेऽपि साध्यप्रतिपत्तेरावश्यकात् । ७९ ॥

पांचरूप्य भी हेतु का लक्षण नहीं है, पांचरूप्य के होने पर भी अविनाभाव का नियम नहीं होने से। पक्षधर्मत्व, सप्तकाद् व्यावृति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये पांचरूप्य हैं। इन पांचों के होने पर भी अविनाभाव का नियम नहीं है। "संति प्रमाणानीष्टसाधनात्" यहाँ इष्टसाधनात् हेतु में पांचरूप्य के नहीं होने पर भी अविनाभाव होने से, तत्पुत्रत्वादि में पांचरूप्य के होने पर भी अविनाभाव नहीं होने से तत्पुत्रत्व हेतु में पक्षधर्मत्व, सप्तकाद् व्यावृति, अबाधित विषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व भी है। ऐसः श्यामः तत्पुत्रत्वात् में पक्ष के प्रत्यक्षादि प्रमाण से कोई बाधा नहीं होने से अबाधित विषयत्व तथा श्यामत्व के विपरीत साधन के प्रति किसी अनुमान की प्रतिपत्ति नहीं होने से असत्प्रतिपक्षत्व भी है। अतः त्रैरूप्य या पांचरूप्य हेतु के लक्षण नहीं हैं, साथ के साथ साधन के अविनाभाव का नियम से होना ही साधन का लक्षण होने से। अविनाभाव का निर्णय होने पर त्रैरूप्यादि के होने पर जैसे साथ्य की प्रतिपत्ति होती है, उसी प्रकार त्रैरूप्यादि के नहीं होने पर भी साथ्य की प्रतिपत्ति आवश्यक होने से । ७९ ॥

^३एवमपि स्वभावकार्यानुपलब्धिभेदेन त्रिविधमेव लिङ्गं । अविनाभावस्य तत्रैव
नियमादिति चेत्, न । रसादे रूपादावतत्स्वभावादेरपिगमकत्वप्रतिपत्तेः । न हि
रसादे रूपादिस्वभावत्वं भेदेन प्रतिपत्तेः । नाऽपि, तत्कार्यत्वं समसमयत्वात् ।
तर्हि कारणकार्यत्वादस्त्येव तस्य तत्कार्यत्वं पारंपर्येणैति चेत् । इन्धनविकारस्यापि

सप्ते सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिश्च ।

त्रैरूप्यादिभावे संति यथा साध्यप्रतिपत्तिः ।

नीद्वः प्रत्यविष्टहते, अविनाभाव नियमस्य लिङ्गलक्षणत्वेऽपि ।

उत्तररूपलक्षणकरणभूतप्राकृतरूपलक्षणकार्यत्वात् ।

पावकजन्मन एवं धूमकार्यत्वेन लिंगत्वापत्तेः। म यैव धूमशिशीवेन तत्त्वाभ्येवं व्यभिचारात्, रसादेरपि^३ “तत्कारणस्य प्रतिपत्तेरेव “रूपादेसपि प्रतिपत्तिस्तस्य तज्जननधर्मतया ततोऽनुमानात्ततः कार्यतयैव तत्र तस्यैव लिंगत्वमिति चेत्ततः कार्यतयैव तत्र तस्यैव लिंगत्वमिति चेत्र, धूमशिशीशपादेरप्यग्निवृक्षादि कार्यस्वभावतया प्रतिपत्तेरेवाग्निवृक्षादिप्रतिपत्तत्वापत्त्या लिंगव्यवहारस्यैवा भावोपनिपातात्। रसादिकारणात्तहि रूपादेरवगम इति चेत्र, कारणस्य लिंगत्वानभ्युपगमात्। स्वभावलिंगमेव तत्तत्र साध्यस्य रूपादेस्तम्बात्रेणैव^४ भावात्, स्वसत्तामात्रानुबंधिसाध्यविषयस्य लिंगस्य स्वभावलिंगत्वोपगमादिति चेत् न। तत् एव धूमादेरपि तत्त्वात्यप्रसंगेन कार्यलिंगस्यामावानुषंगात्र रसादेः कार्यस्वभावयो रस्तभविते नाऽप्यनुपलंभे^५ विधिसाधनत्वादिति कार्यादिभेदेनात्रैविष्यं लिंगस्य ॥ 180 ॥

बोद्ध पुनः कहते हैं—अविनाभाव को साधन का लक्षण होने पर भी स्थभाव, कार्य और अनुपलंभि के भेद से हेतु तीन प्रकार का ही है, अविनाभाव का उसी में नियम होने से यह कहाँ भी ठीक नहीं है रसादि के रूपादि में अतत्स्थभाव होने पर भी गमकत्व की प्रतीति होने से रसादि स्वभाव बालेभी नहीं हैं भेद से प्रतिपत्ति होने से। रसादि रूपादि के कार्य भी नहीं हैं, समसमय बाले होने से बाद के रूप लक्षण का कारण पूर्वरूपलक्षण कार्य के होने से परंपरा से कार्यत्व है, यह भी नहीं कह सकते, इस प्रकार अग्नि से उत्पन्न भस्म को भी उनका कार्य धूआं होने से लिंगत्व का प्रसंग होने से भस्म से धूमादि की उत्पत्ति नहीं होने से भस्म धूमादि का लिंग नहीं है, अतः व्यभिचार है।

पूर्वरूपादि से रसादि की प्रतिपत्ति से ही रूपादि की प्रतिपत्ति होती है, रूपादि को रसादि के उत्पन्न करने का धर्मवाला होने से अतः अनुमान से कार्यरूप से वहां उसी लो हेतुपन्न है, ऐसा नहीं कह सकते, धूआं और शिशीपा आदि को भी अग्नि और वृक्षादि के कार्य स्वभाव रूप से प्रतिपत्ति होने से अग्निवृक्षादि की प्रतिपत्ति का प्रसंग होने से हेतु के व्यवहार का ही अभाव होने का प्रसंग होने से। रसादि कारण से तब रूपादि का ज्ञान होता है यह नहीं कह सकते, कारण को हेतुपना नहीं माना जाने से। स्वभावलिंग ही है रसादि रूपादि का पूर्वरूप क्षण को उत्तररूपलक्षण का जनक होने का स्वभाव होने से, इस स्वभाव लिंग से रूपादि साध्य के सिद्ध होने से। अपनी सत्ता मात्र से संबंधित साध्यविषय के लिंग को स्वभावलिंगत्व माना जाने से। यह कहना भी ठीक नहीं है, उसी से धूमादि को भी अग्नि आदि के लिंगत्व का प्रसंग होने से, कार्यलिंग के अभाव का प्रसंग होने से रसादि के कार्य और स्वभाव में अन्तर्भौद्य नहीं होता, अनुपलंभ में भी अन्तर्भौद्य नहीं होता, उपलंभ का साधन होने से। अतः कार्य स्वभाव और अनुपलंभि के भेद से लिंग तीन प्रकार का नहीं है ॥ 180 ॥

^१ भस्मादेरिति भावः।

^२ इत्यत्र तृतीया हेत्वर्थं नतु सहार्थः।

^३ अनुभूयमानात्।

^४ पूर्वरूपादेः।

^५ अनुभूयमानरसलक्षणस्मानकालीनस्थः।

^६ पूर्वरूपक्षण उत्तररूपक्षणजनकः पूर्वरूपक्षणल्लात् संप्रतिपन्नवत्।

^७ अन्तर्भौद्यः।

नाऽप्यन्वयादिभेदेन संति प्रमाणानीष्टसाधनादित्यस्यागमकल्पप्रसंगात् । नह्यसावन्वयी व्यतिरेकी वा साधमर्योदाहरणादेरभावादत् एव नान्वयव्यतिरेक्यपि । न आसावगमक एवेष्टसाधनस्य प्रमाणसद्वाविनाभावितया निर्णयात् । प्रमाणनिरपेक्षे हि तत्त्वाभ्युन्मितिप्रसंगः कल्पशिशलस्य लल्लोपलवसंविद्वैता—देविव तद्विपर्ययस्यापि¹ तथा तत्प्रसंगात् ॥४१॥

अन्वयादि भेद (अन्वय, व्यतिरेक तथा अन्वय व्यतिरेकी आदि) भेद से भी लिंग तीन प्रकार का नहीं है— “संति प्रमाणानीष्टसाधनात्” यहाँ “इष्टसाधनात्” हेतु के अगमकल्प का प्रसंग होने से इष्टसाधनात् हेतु न अन्वयी है न व्यतिरेकी, साधमर्य वैधमर्य उदाहरण का अभाव होने से । साधमर्य वैधमर्य उदाहरण का अभाव होने से ही यह अन्वय व्यतिरेकी भी नहीं है यह हेतु अगमक भी नहीं है, इष्टसाधन का प्रमाण के साथ अविनाभाव रूप से निर्णय होने से प्रमाण के बिना ही इष्ट साधन होने पर अतिप्रसंग हो जायगा । तत्त्वोपलवसंविद्वैतादि के समान उसके विपरीत तत्त्वसद्भाव पुरुषद्वैतादि के यहाँ भी उसी प्रकार का प्रसंग होने से ॥४१॥

नापि² संयोग्यादिभेदेन चातुर्विध्यं तस्य³ कृतिकोदयस्य शकटोदयादाव—लिंगत्वापत्ते । नहि तत्र तस्य संयोगो धूमस्येवाच्नौ नाप्यज्ञौ तस्य समवायी गोरिव विषाणादिः । न य तेन सहेकार्थसमवायी⁴ रूपादिनेव रसादिः । न च तद्विरोधी तद्विधिलिंगत्वात् । तत्र लिंगे त्रैविध्यादिनियमकल्पनमुपपन्नम् । ⁵अतन्त्रिय—तस्यापि साध्याविनाभावनियमविषयस्यानेकस्याभावात् ॥४२॥

संयोग, समवाय एकार्थसमवाय और विरोधी के भेद से लिंग चार प्रकार का भी नहीं है, कृतिकोदय को शकटोदयादि में अलिंगत्व का प्रसंग होने से शकटोदय आदि में कृतिकोदय का अविन में धुएं के समान संयोग नहीं है, गाय के विषाणादि के समान समवाय संबंध भी नहीं है, रूपादि के साथ रसादि के समान एकार्थसमवाय संबंध भी नहीं है, वह विरोधी भी नहीं है उसको (प्रमाण को) सिद्ध करने में लिंग होने से अतः हेतु में त्रैविध्य प्रावृत्त्य, चातुर्विध्य आदि नियम की कल्पना ठीक नहीं है, त्रैविध्यादि के न होने पर भी साथ के साथ अविनाभाव रूपी नियम का अभाव होने से ॥४२॥

संक्षेपेण तु ⁶तद्विद्यमानं द्विधा भवति, विधिसाधनं प्रतिषेधसाधनं चेति । विधिसाधनमपि द्वेधा, धर्मिणस्तद्विशेषस्य चेति धर्मिणो यथा, संति बहिरर्थाः साधनदूषणप्रयोगादिति । कथं⁷ पुनरतो भावधर्मिणो बहिरर्थस्य साधनं? कथं⁸ य

¹ तत्त्वसद्वावपुरुषद्वैतादेः ।

² संयोगिसमवायिएकार्थसमवायितद्विरोधी भेदेन ।

³ लिंगस्य ।

⁴ कृतिकोदयः ।

⁵ न विद्यते त्रैविध्यादि नियतं यत्र ।

⁶ साधनं ।

⁷ एवः प्राह ।

⁸ तौन आह ।

न स्यात्? अस्य^१ तद्रावधर्मत्वे लद्वदसिद्धत्वापत्तेस्तदभावधर्मत्वे चातस्तदभावस्यैव
सिद्धेविरुद्धत्वोपनिपातात् तदुभयधर्मत्वे च व्यभिचारप्रसंगादिति चेत्
“प्रत्येकोऽभयधर्मविकल्पविकलस्यैवास्याभ्यनुज्ञानात्। कथमेव” तस्य बहिरर्थभाव
प्रत्येव लिंगत्वे न तदभावं प्रत्यपीति चेत्, तत्रैव तस्याविनाभाव नियमाद
मिधर्मस्यापि कृतकल्पादेवनित्यत्वादौ तत् एव गमकत्वोपपत्तेन धर्मिधर्मत्व—
—मात्रेणैकशाखाप्रभवत्वादापि तदुपनिपातेनातिप्रसंगापत्तेः ॥५३॥ तत्र साधनं नीलादे
संवेदनत्वसमर्थनं दूषणं बहिरर्थत्वनिषेधनं तयोः प्रयोगः प्रकाशनं^२ नीलादे
संवेदनात् व्यतिरिक्तस्तद्वेदत्वात् सुखादिवदित्यादिश्च, कथं पुनरस्य बहिरर्था—
भावेऽनुपपत्तिरिति चेत्, अस्य बहिरर्थविशेषादैव । न हि तदभावे तद्विशेषस्य संभव
वृक्षाभावे शिंशपाभावस्यैव प्रतिपत्तेः । नासौ तद्विशेषं^३ आरोपितरोपितलपत्तादिति चेत्,
न ततः सर्वशक्तिविकलादनिष्टवदिष्टस्याप्यसिद्धेः । अथनारोपितोऽप्यायं बोध एव
न बहिरर्थ इति चेत् न, प्रतिपाद्यस्य तदभावात् । प्रतिपादकस्येति चेत्, कथं
ततः^४ प्रतिपाद्यस्य प्रकृतार्थप्रतिपत्तिरन्यबोधादन्यस्य तदनुपपत्तेर^५न्यथा
प्रत्यात्मबुद्धिभेदकल्पनावैफल्योपनिपातात् । तस्मादर्थविशेषं एवाऽप्यवित्युपपत्तमेवतो
बहिरर्थव्यवस्थापनं तदभावे स्वयमप्यभावापत्तेः ॥५३॥

संक्षेप में वह साधन दो प्रकार का है—विधि साधन और प्रतिषेध साधन विधि
साधन भी दो प्रकार का है—धर्मी का और धर्मी विशेष का । धर्मी का उदाहरण है—“संति
बहिरर्थः साधनदूषणप्रयोगात्” । अन्य मतावलंबी कहते हैं इससे भावधर्मी बहिरर्थ का साधन
कैसे हुआ? जैनाचार्य कहते हैं कैसे नहीं होगा? परपक्ष कहते हैं—साध्य को भावधर्म होने पर
उसी के समान असिद्धत्व की आपत्ति होती है, अभावधर्म मानने पर अभाव की ही सिद्धि
होती है । अतः साधन विरुद्ध ही जाता है, भावाभाव उभय धर्म मानने पर व्यभिचारी ही
जाता है । आचार्य कहते हैं—ऐसा नहीं है—भाव, अभाव और भावाभाव विकल्प से रहित ही
धर्मी को माना जाने से विपक्षी कहते हैं—धर्मित्व के अभाव में साधन दूषण प्रयोग हेतु
बहिरर्थ के सदभाव के लिए ही कैसे है? अभाव के लिये क्यों नहीं है? आचार्य कहते हैं—यह
कहना ठीक नहीं है—भाव के प्रति ही उसके अविभावभाव का नियम होने से । “शब्दोऽनित्यः
कृतकल्पात्” । यहाँ भी शब्दधर्मी में अनित्यत्व धर्म को सिद्ध करने में कृतकर्त्त नहीं भी

^१ “असिद्धो भावधर्मत्वे व्यभिचार्युभ्यान्तिः । विरुद्धो धर्मो भावस्य सा सत्ता साध्यते कथं” इसि
कारिका मनसि धृत्वा पर प्राप्तः ।

^२ भाव, अभाव ।

^३ भावाभावश्च ।

^४ धर्मित्वाभावे ।

^५ अन्यथा, सर्वाङ्गतानि पवनानि धर्मीणि एकशाखाप्रभवत्वात् ।

^६ भाव प्रत्यविभावाभाव समर्थयते परः ।

^७ उभ्याशर्णः ।

^८ ग्रन्थोन्नरथ विहिरर्थविशेषत्वं शब्दस्त्रात्यात्मीतेपतत्वं ।

^९ साधन दूषणग्रन्थोग, बहिरर्थविशेष इत्यारोपितलपत्तात् ।

^{१०} प्रतिपादकबोधात् ।

^{११} प्रकृतार्थप्रतिपत्तयनुपपत्तेः ।

धर्मिसाधन के कारण ही गमक है, केवल धर्मी धर्म के कारण नहीं अन्यथा "सर्वफलाभि इत्यानि एकशाखाप्रभवत्यात्" यहां भी धर्मी के एकशाखाप्रभवत्व होने से हेतु को गमकत्व का अस्ति आने से, अतिप्रसंग दोष आयेगा। क्योंकि एक शाखा पर होने के कारण सभी फलों का पका होना आवश्यक नहीं है। विषेषज्ञ बहिरर्थ के भाव के प्रति अदिनाभाव का अभाव लात हुए कहते हैं नीलादि को सर्वेदनत्य का समर्थन साधन है और बहिरर्थ का निषेष रूप है, उनका प्रयोग इस प्रकार है—नीलादि संवेदन से भिन्न है, संवेदन के द्वारा ज्ञेय होने से अपने स्वरूप के समान इत्यादि। नीलादि जड़ नहीं है प्रतिभासमान होने से सुखादि के समान इत्यादि। बहिरर्थ विशेष के कारण ही बहिरर्थ के अभाव में बहिरर्थ विशेष की समाक्षन भी हो सकती, वृक्ष के अभाव में शिशाया के अभाव की ही प्रतिपत्ति होने से साधन दूषण प्रयोग बहिरर्थ विशेष नहीं हैं, आरोपित रूप होने के कारण, यह कहना भी ठीक नहीं है, सर्वशक्ति रहित उस हेतु से अनिष्ट के समान इष्ट की भी सिद्धि नहीं होने से आरोपित नहीं होने पर भी यह ज्ञान ही है, बहिरर्थ नहीं, यह नहीं कह सकते। यदि नीलादि को प्रतिष्ठाय मानते हों तो वह ज्ञान नहीं हो सकता। प्रतिपादक? कहते हों तो उस प्रतिपादक ज्ञान से प्रतिपाद्य के प्रकृत अर्थ का ज्ञान कैसे होगा? अन्य ज्ञान से अन्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होने से, यदि अन्य के ज्ञान से अन्य के अर्थ की प्रतिपत्ति होने लगे तो पारिशेष्यादवतिष्ठत इति चेदस्ति तर्हि प्रमाणमुपायाभावोपदर्शनस्यैव सत्त्वादन्यथा असादेकांतविपर्ययप्रतिक्षेपानुपपत्ते। पारिशेष्य^१ च यदि न प्रमाणं न तद्वलात्तदे— सत्त्वाद्य तद्विपर्ययव्यवस्थापनम्। तस्मात्प्रमाणमेव तत्त्वेत्युपपत्तमेवेष्टसाधनान्यथा नुष्पत्त्या प्रमाणास्तित्वव्यवस्थापनम्। एवमन्यदपि धर्मिसाधनमन्यूहितव्यम्। ॥83॥

तथेदमपरं धर्मिसाधनं सति प्रमाणानीष्टसाधनादिति। न हि प्रमाण निष्पत्तमिष्टस्य विभ्रमैकांतादे: साधनमुपपत्तं, तद्विपर्ययस्यापि तथैव तत्प्राप्त्या तदकालाभावप्रसंगात्। तद्विपर्ययस्योपायाभावोपदर्शनेन प्रतिक्षेपे तदेकांत एव पारिशेष्यादवतिष्ठत इति चेदस्ति तर्हि प्रमाणमुपायाभावोपदर्शनस्यैव सत्त्वादन्यथा असादेकांतविपर्ययप्रतिक्षेपानुपपत्ते। पारिशेष्य^१ च यदि न प्रमाणं न तद्वलात्तदे— सत्त्वाद्य तद्विपर्ययव्यवस्थापनम्। तस्मात्प्रमाणमेव तत्त्वेत्युपपत्तमेवेष्टसाधनान्यथा नुष्पत्त्या प्रमाणास्तित्वव्यवस्थापनम्। एवमन्यदपि धर्मिसाधनमन्यूहितव्यम्। ॥84॥

यह दूसरा धर्मी साधन है— "सति प्रमाणानीष्टसाधनात्" प्रमाणनिष्पेक्ष विभ्रम एकान्त अदि से इष्ट का साधन नहीं हो सकता अन्यथा अप्रमाण के एकान्त रूप से अभाव का अस्ति होने से प्रमाण के विपरीत को उपाय के अभाव के रूप में दिखाने से उसका निष्पत्त करने पर वह एकान्त ही पारिशेष्य रूप से रहता है यदि ऐसा कहते हों तो प्रमाण सिद्ध हो जाता है, उपाय के अभाव दिखाना ही एकान्त होने से अन्यथा एकान्त विपर्यय का निष्पत्त नहीं हो सकता। पारिशेष्य भी है, यदि प्रमाण न हो तो उसके अध्यार पर एकान्त की प्रमाण के विपरीत स्थापना नहीं हो सकती। अतः विभ्रम एकान्त आदि की साधन से भी प्रमाण की ही सिद्ध हाली है। अतः प्रमाण के बिना इष्ट साधन नहीं हो सकता, इससे प्रमाण के अस्तित्व की व्यवस्था सिद्ध हो जाती है, इसी प्रकार अन्य भी धर्मिसाधन को जानना चाहिये। ॥84॥

^१ इति शब्द प्रतिवेद्ये अन्यथा प्रसंगात् शिष्यमाणं सप्राच्यथ अविष्यस्तुत्तरा भावं पारिशेष्यः विभ्रमेकांतादिव्यवस्थापने।

४१। अर्थात् विशेषसंकलनपि द्वेष्टा ॥ अर्थात् सोऽनश्चालुक्यान्तरं चेति । अनश्चान्तरम् द्विविधं, सपक्षेण विकलमविकलं चेति तत्राद्यं सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादिति । सत्त्वं खलु सामर्थ्येन व्याप्तमसमर्थाद्^१ व्योगकुसुमादेस्तस्य व्यावृत्ते । सामर्थ्यस्य वैकल्पन ततः प्रदीपादि^२ संबंधिनः कञ्जलमोचनतैलशोषादिकार्यम् । अनेकत्वे च कथं न^३ भावस्थानेकांतात्मत्वं । *भावतस्तस्य व्यक्तिरेकादिति न, समर्थो भाव इति भावसामानाधिकरणयेन सामर्थ्यस्याप्रतिपत्तिप्रसंगात् । तथा तत्प्रतिपत्तेरव्यतिरेक एव द्रव्यत्वं सामान्यं संवेदनं प्रमाणमित्यादी दृष्टत्वात् । कथं पुनरेकस्थानेकत्वं विरोधादिति चेत् न, तदभावे तत्प्रतिपत्तेरेकानुपपत्तेविरोधस्यहि विरोधिनोऽवगमे सत्येन प्रतिपत्तिः अवगमश्च नैकस्वभाववा बुद्ध्या तयोरेकत्वाप्ते ।^४ अनेकस्वभावान्याश्चानेकांतमनिक्षेत्रामसंभवात् । एवं वैयधिकरण्यादिप्रतिपत्तावपि वक्तव्यम् । ४५ ॥

धर्मी विशेष साधन भी दो प्रकार का है—धर्मी से अभिन्न और भिन्न धर्मी से अभिन्न भी दो प्रकार का है—सपक्ष से रहित और सपक्ष से सहित । सपक्ष रहित—“सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्” यहाँ सत्त्व हेतु सभी अर्थ किया करारी से व्याप्त है असमर्थ (अर्थकिया कारी से विपरीत) आकाश कुसुम आदि से अव्याप्त है । सामर्थ्य के एक होने पर उससे प्रदीपादि संबंधी का जल का छोड़ना, तेल का सुखाना आदि कार्य नहीं होगा, अभेद होने पर पदार्थ कोअनेकान्तात्मकता कैसे नहीं होगी^५ पदार्थ से उसके भेद होने के कारण यदि यह कहो तो “समर्थो भाव” इस प्रकार भाव के समानाधिकरण के रूप सामर्थ्य की अप्रतिपत्ति का प्रसंग आयेगा । भाव के साथ सामर्थ्य के समानाधिकरण के रूप प्रतिपत्ति होने पर वह भाव से अभिन्न ही है, द्रव्यत्वं सामान्यं संवेदनं प्रमाणं इत्यादिमें वेद ज्ञाने से । एक को अनेकता कैसे हो सकती है, दोनों में विरोध होने से, यह भी नहीं सकते, विरोधी के अभाव में विरोध की ही प्रतिपत्ति नहीं होने से, विरोधी के ज्ञान हो जाने पर ही विरोध की प्रतिपत्ति होती है । एक स्वभाव वाली बुद्धि से तो विरोधी का ज्ञान हो नहीं सकता, दोनों के एक होने का प्रसंग होने से, अनेक स्वभाव वाली बुद्धि अनेकान्त वो न चाहने वालों के यहाँ असंभव है । इसी प्रकार वैयधिकरण आदि की प्रतिपत्ति में भी कहाँ चाहिये । ४५ ॥

^१ कियाकरकात् ।

^२ आदेशाद्देन

वर्तीकादाहोर्द्धपक्लनस्वपरप्रकाशनतमश्छेदनस्फोटादिकरणानुवृत्तावृत्तप्रत्ययोत्पादनप्राणिविशेषदृष्टिप्रतिबन्धमनुष्यादिदृष्टयप्रतिबन्धनप्राणिविशेषमारणप्रदीपांतरकारणादि व्याधां ।

^३ पदार्थस्य ।

^४ पदार्थतः ।

^५ भेदभेदयोर्विधिनिषेधयोरेकत्राभिन्ने वरतुभ्यसनेण शीतोऽप्यायोरितेति विरोधः । भेदस्थान्यधिकरणमभेदस्थान्यादिति वैयधिकरण्य, यमतन्मानं पुरोधाय भेदोय च समाक्रित्याभेदस्थानात्मानो भिन्नी चाभिन्नी तत्राऽपि तथा परिकल्पनादनदस्था, येन रूपेण भेदस्तेन भेदस्थाभेदश्वेति सकर, येन भेदस्तेनान्मेणाभेदस्तेन भेद इति व्यतिकर, भेदाभेदात्मकत्वे च वरतुनो समाधारणाकारेण निश्चेतुमशक्तः संशय तत्त्वशब्दप्रतिपत्ति, सतोऽभाव इत्यानेकमीड्डदृष्टयणानि ।

^६ बुद्धेः ।

संशयस्तु स्वयमेव निर्णयनिर्णयरूपतया । अनेकांतरूपतामु' पजीवन्न
तत्प्रतिक्षेपाय संपद्यते भावस्यानेकरूपत्वं यद्येकस्वभावात्ततः कार्यमप्यनेकं किं न
स्यात्? अनेकस्वभावाच्चेदनवस्था पुनस्तस्याप्यन्यतस्ततो भावात् इत्यपि न युक्तं.
स्वहेतोरेव तथाविधात्तस्य तद्रूपतयोत्पत्तेहेतुतथाविधत्वस्यापि तद्देतु
तथाविधत्वादेव भावात् । न चैव मनवस्थानं दोषोऽनादित्वात्तत्प्रबंधस्य ततो युक्तं
सत्त्वं सर्वस्यानेकात्मकत्वं तादन्यथानपपत्तिनियमवलयासाधयत्सप्तक विकलस्यो—
दाहरणम् । ॥86॥

संशय तो रख्य निर्णय तथा अनिर्णय रूप होने के कारण अनेकरूपता को प्राप्त
करता हुआ अनेकान्त का निश्चकरण नहीं कर सकता । पर पक्ष कहता है—भाव को
अनेकरूपता यदि एक स्वभाव से मानते हों तो कार्य भी अनेक व्यों नहीं होगे? अनेक
स्वभाव से कहो तो अन्यस्था हो जायगी फिर उसके भी अन्य अनेक स्वभाव थाले से होने
के कारण । यह कहना भी ठीक नहीं है । उस प्रकार के आपने हेतु से ही उसकी
अनेकरूपता होने से, उस हेतु और अनेकरूपता के भी उसके हेतु और अनेकरूपता से
अनेकरूपता होने के कारण । इस प्रकार अन्यस्था भी होती । उस परेशन के अनादि होने
से अतः सत्य हेतु सर्व पदार्थों में अनेकांतात्मकत्व को सिद्ध करता हुआ सप्तक विकल का
उपयुक्त उदाहरण है, अनेकान्तात्मकत्व के बिना सत्त्व के नहीं होने का नियम होने
से । ॥86॥

सप्तकाविकलमपि द्विभा, सप्तकस्य व्यापकमव्यापकं चेति व्यापकं यथा,
अनित्यः शब्दः कृतकत्वात्^१ घटवदिति । स पक्षे व्यापकत्वं चाऽस्य घटवदनित्ये
सर्वत्र विद्युद्भन्कुसुमादावपि भावात् तदव्यापकत्वं तु तत्रैव साध्ये
प्रयत्नंतरीयकत्वं, तस्य तत्वं घटवदनित्येऽप्यन्यत्र जलधरध्वानादावभावात् । ॥87॥

धर्मी से अमिन्म सप्तक सहित भी दो प्रकार का है—व्यापक और अव्यापक । व्यापक
का उदाहरण है—अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत् कृतकत्व हेतु का सप्तक में व्यापकत्व है
घड़े के समान अनित्य विद्युत धन कुसुम आदि में भी सर्वत्र होने से । अव्यापकत्व उसी
अनित्य साध्य में प्रयत्नंतरीयकत्व स्वभाव से होना है । कृतकत्व हेतु के घड़े के समान अन्य
अनित्य वस्तुओं में होने पर भी मैथ गजन आदि में नहीं होने से । ॥87॥

धर्मिणो भिन्नमपि^२ लिंगमनेकधा, कार्यकारणमकार्यकारणं चेति । कार्यं धूमः
पर्वतादी हि पादकस्य, व्याहारादि शरीरे जीवस्य कारणं, मेघोत्तिविशेषे वृष्टेः
अभ्यवहारविशेषस्तृप्तोः । करणस्य^३ कथं लिंगत्वं? प्रतिबंधवैकल्याभ्यां तस्य

^१ गच्छन् ।

^२ 'मूलक्षयकरीभाहुरनवस्थां हि दृष्टां विस्तानत्येऽप्यशक्तीं च नानवस्था निवार्तते' ।

^३ अपेक्षितप्रव्यापासो हि मावः कृतक उच्चाते ।

^४ अर्थात् ।

^५ सौगतः ।

^६ साम्यप्रतिबंधकारणात्तरवैकल्याभ्यां ।

कार्यत्वानियमादिति चेत् सत्यम् यदि कारणमात्रस्य लिंगत्वं न चैवम् अन्यथाऽनुपपत्तिनियमनिर्णयत् एव तस्य तत्त्वोपगममात्थाविधत्वं च प्रसिद्धम् मेधोन्नतिविशेषदौ व्यवहारिणामिति निरवद्यं तस्य लिंगत्वम् ॥४८॥

धर्मी से भिन्न साधन भी अनेक प्रकार के हैं कार्य, कारण तथा अकार्यकारण। कार्यलिङ्ग धूआं पर्यालाहिं^३ अग्निं कर्त्तुं चौलक्षी लिंगीं^४ इत्यादि शरीरम् जीव का कारण है, बादल का उन्नत होना वृष्टि का कारण है, भोजन करना आवि तृफि का कारण है।

सौभग्य कहते हैं—कारण को लिंगत्व कैसे है? सामर्थ्य, प्रतिबंध आदि कारण नंतर के बिना कारण के कार्यरूप होने का नियम नहीं होने से आचार्य कहते हैं—यह कहना ठीक है—यदि कारण मात्र को साधन कहा जाय किंतु कारण मात्र को साधन नहीं कहा गया है, अन्यथाऽनुपपत्ति नियम वाले कारण को ही लिंगत्व भासा जाने से और मेधोन्नति विशेष आदि में वृद्धिआदि के अन्यथाऽनुपपत्ति का नियम व्यवहार में प्रसिद्ध ही है अतः कारण को लिंगत्व दोषरहित है ॥४८॥

अकार्यकारणं पुनर्द्वैधा, साध्येन समसमयं विभिन्नसमयं चेति | समसमय रसादि रूपादि, शरीराकारविशेषो जीवस्य प्रतिपद्यांते गाढमूर्छाद्यवस्थाय तद्विशेषदर्शनाज्जीवत्ययमिति प्रतिपत्तारः कथमन्यथा तदवस्थापूर्वोदाय तेषां चिकित्साविधाद्युपत्रकम्^५ इति । विभिन्नसमयं पुनरद्य भास्करोदयः “उत्तरेष्युत्तरदु-दयस्य । नाऽवश्यं भावस्तदुदयस्य कदाचित्पतिव्रतया तत्प्रतिबंधस्य श्रवणादिति चेत्र, “जनश्रुतिमात्रविश्वासेन व्यभिचारकल्पतस्यायोगात्, अन्यथा पुत्रस्य “पितृप्रभवत्वानुभानमपि न भवेत् द्वोणवदपितृकस्यापि तद्वावस्य संभवात् । अस्ति हि तत्रापि जनश्रुतिः “द्वोणः कलशादुत्पन्न” इति । कथमेवमप्युत्तरोदय प्रत्यकार्यत्वमस्येति चेत्, ततः प्रागेव भावात् । तथाऽप्युत्तरस्य कारणत्वे “प्राप्त्वाद सर्वहेतुनामित्यस्य व्यापत्तिः । तं प्रत्यकारणत्वमपि चिरत्यवहितत्वेन, तत्काल प्राप्त्यभावात् । अन्यथा तादृशादेवाविद्यातृष्णादेसुकिंगतस्यापि संसाशोत्पत्तेन सुक्षिप्रात्यंतिकी भवेत् ॥४९॥

अकार्यकारण दो प्रकार का है—साध्य से समसमय और विभिन्न समय (समसमय) रसादि रूपादि का है, जीव का शरीर का अकार विशेष है। जानने काले गाढ़ मूर्छा आदि की अवस्था में शरीराकार विशेष को देखकर यह जीता है, ऐसा जानते हैं, अन्यथा मूर्छा को दूर करने के लिए उनकी चिकित्सा का आरंभ क्यों किया जाता है, विभिन्न समय—आज सूर्य का उदय होने से कल सूर्योदय होगा, यह अनुमान प्रतिपक्षी कहते हैं—कहीं—कहीं पतिव्रता के द्वारा उसका प्रतिबंध सुना जाता है, अतः आज का सूर्योदय कल के सूर्योदय

^१ विभिन्नसमयः ।

^२ इत्यात्मारम्भ उपक्रमः ।

^३ उल्पांशु भास्करः उद्देष्याति अद्य भास्करोदयात् ।

^४ शाङ्किल्या ।

^५ अर्थं पितृप्रभव, पुत्रवात् ।

का अवश्यक कारण नहीं है। आद्यार्थ कहते हैं—यह कहना लीक नहीं है, जब श्रुति सात्र पर विशेषज्ञास करने से व्यभिचार की कल्पना नहीं की जा सकती है, अन्यथा “अयं पितृप्रभयः पुन्नत्वात्” यहा पुनर के पिता से उत्पन्न होने का अनुमान भी भहीं किया जा सकता, द्वौष के समान बिना पिता के भी पुनर्न्य की संभाइना होने से यहां भी जनश्रुति है कि द्वौष कल्पना से उत्पन्न हुए थे। ऐसा होने पर भी उत्तरोदय के प्रति आज के सूर्य को अकार्यत्व कहों है? यदि ऐसा कहते हो तो उसके उससे पहले होने के कारण यदि विर भी उत्तर को कारण मानोगे तो “प्रायाव सर्वहेतुना”। इस कथन का विरोध होगा जिसके प्रति अकारणत्व है। विर व्यवहित होने के कारण तत्काल प्राप्ति का अभाव होने से अन्यथा चिरव्यवहित तथा तत्काल प्राप्ति नहीं होने पर भी अविद्या, तुष्णा आदि से मोक्ष प्राप्त के भी संरात्र की उत्पत्ति होने से किसी की भी अत्यधिकी भूमि नहीं होगी। । १७१ ॥

सात्रेश्वरी ॥ ३८४॥१७१॥ वृत्तिविवरण ॥

कथं^१ पुनः पुनरतत्त्वभावस्यातत्कार्यस्य च तदुदयस्य तत्राविनाभावो गवादेस्तादृशस्याभ्यादौ तदनवलोकनादिति चेत् तत्स्वभावादेरपि कथं? — चूतत्वस्य तत्त्वभावत्वेऽपि वृक्षत्वे, भस्मनस्तत्कार्यत्वेऽपि पावके^२ तदनवलोकनात्। कथमन्यथा चूतत्वं लतायां निर्दहनमपि^३ भस्मं भवेत्। विशिष्टस्यैव उस्य वृक्षत्वादौ नियमो न तन्मात्रस्य तथाप्रतीतेरिति चेत्। सिद्धमिदानीमस्वभावादेरप्यद्यतनतपनोदयस्य श्वस्तनतदुदयं प्रत्यविनाभावित्वं तथा प्रतीतेः न गवादेर^४ व्यादिकं प्रति^५ विषयं यात् ततो युक्तमविनाभावसंभवादस्वभावादेरपि लिङ्गत्वम्। एवमन्यदपि विधिसाधनं प्रतिपत्ताव्यम्। । १७० ॥

बौद्ध कहते हैं—दूसरे दिन के सूर्योदय से पहले दिन के सूर्योदय को अलत्तस्वभाव और अलत्कार्य होने पर भी उसका दूसरे दिन के सूर्योदय के साथ अविनाभाव कैसे सिद्ध होगा। अलत्तस्वभाव और अलत्कार्य गतादि का कुत्ते आदि में अविनाभाव नहीं देखा जाने से। यदि ऐसा कहते हो तो तत्त्वभावादि का भी अविनाभाव कैसे है? आपत्त्व का तत्त्वभाव होने पर भी वृक्षत्व में तथा भस्म का तत्कार्य होने पर भी अभिन में अविनाभाव नहीं देखा जाने से। यदि अविनाभाव होता तो लता में आपत्त्व और अभिन रहित भस्म कैसे होता? यदि यह कहो कि विशिष्ट आपत्त्व और भस्म का ही वृक्षत्व लक्षण अभिनत्व के साथ अविनाभाव है, आपत्त्व तथा भस्म मात्र का नहीं, उस प्रकार प्रतीति नहीं होने से तो अलत्तस्वभाव और अलत्कार्य आज के सूर्योदय को कल के सूर्योदय के साथ अविनाभाव सिद्ध ही हो जाता है। ऐसी प्रतीति होने से, गवादि का अविनाभाव के प्रति लिङ्गत्व भहीं सिद्ध होता, अविनाभाव नहीं होने से अविनाभाव के होने पर अलत्तस्वभाव और अलत्कार्य की भी लिङ्गत्व सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य भी विधि साधन ज्ञानम् चाहिये। । १७० ॥

^१ सौभाग्य ।

^२ साक्ष्य ।

^३ चूतत्वस्य ललाच सह भग्ननश्च सह पावकेनाविनाभावोऽरत्तीति चेत् ।

^४ अविनाभावित ।

^५ निष्पाप्त्य ।

^६ लिङ्गत्व ।

^७ अविनाभावित वास्तवीत्वम् ।

प्रतिषेधसाधनमपि द्विधा, विधिरूप प्रतिषेधरूपं घेति । विधिरूपमप्यनेकद्या, विरुद्धं यथा, नाऽस्ति तत्र शीतस्पर्शो वह्नेरिति । वह्नि खलूष्णस्पशत्त्वा साध्ये धूमादिति । धूमो हि वह्नि तत्कार्यत्वेनावगमयस्तद्विशेषिनः स्पर्शस्थाभा—

वभवबोधयति ॥ 91 ॥

प्रतिषेध साधन भी हो सकता है। विधि सह विधिरूपमप्यनेकद्या, विधिरूप भी अनेक प्रकार का है— विरुद्ध, विरुद्ध कार्य और विरुद्ध अकार्य कारण। विरुद्ध का उदाहरण है— “नास्ति तत्र शीतस्पर्शो वह्ने” अर्थि उच्च स्पर्श याली है, रूपविशेष से जानी जाती है, उससे विरुद्ध शीत स्पर्श के अभाव का बोध कराती है। विरुद्ध कार्य—जैसे “नास्ति शीत शीत स्पर्शो धूमात्” धूआं आग का कार्य होने के कारण आग का बोध कराता हुआ उसके विशेषी स्पर्श के अभाव को बताता है। ॥ 91 ॥

कारणविरुद्धकार्यमस्यैव प्रभेदः तद्यथा—नाऽस्य हिमजनितो रोमहर्षादिविशेषो धूमादिति । धूमः खलु हिमस्य तत्प्रत्यनीकदहनोपनयनद्वारे णाभावमाविभावियस्तत्कार्यस्य तद्विशेषस्याभावमवबोधयति ॥ 92 ॥

कारणविरुद्ध कार्य इसी का प्रभेद है—जैसे “नास्त्यस्य हिमजनितो रोमहर्षादिविशेषो धूमात्”। धूआं ठंड के विरुद्ध अर्थि को बताने वे तत्र ठंड के अभाव को बताता हुआ ठंड के कार्य रोमहर्षादि विशेष के अभाव का बोध कराता है। ॥ 92 ॥

विरुद्धकारणं, नायं मुनि परपीडाकरः कृपालुत्त्वादिति । कृपालुत्त्वं हि परहितनिवंधनतयाऽनुग्रहमुपस्थापयत्^३द्वतस्तत्पीडाऽरत्पमपाकरोति ॥ 93 ॥

विरुद्ध कारण—“नायं मुनि परपीडाकरः कृपालुत्त्वादिति” यह मुनि दूसरे को कष्ट देने वाले नहीं हैं, कृपालु होने के कारण, कृपालुत्त्व हेतु परहित का कारण होने से अनुग्रह की स्थापना करता हुआ, कृपालु मुनि के परपीडाकरत्व का निराकरण करता है। ॥ 93 ॥

कारणविरुद्धकारणमस्यैव प्रभेदः । तद्यथा—नाऽस्य मुनेभित्यावादस्तत्त्व—शास्त्राभियोगादिति । तदभियोगो हि रागादिरहितस्य तत्कारणतया तत्त्वज्ञानसदा—यमुपनिपातयस्तत्प्रत्यनीकभित्याज्ञानवृत्तिभित्यावादस्य तनिवंधनमित्यावादस्य विरहं “निरपवादमुपपादयति ॥ 94 ॥

कारण विरुद्ध कारण इसी का प्रभेद है—“नास्यमुनेभित्यावादस्तत्त्वशास्त्राभियोगात्” तत्प्रत्यज्ञानकारणतया निर्दुष्टं।

पिंगांगभासुराकारत् ।
मुने ।
तत्प्रत्यज्ञानकारणतया ।
निर्दुष्टं ।

बाला हुआ उसके विरुद्ध मिथ्याज्ञान की नियुक्ति छोने के द्वारा उसके कारण मिथ्यावाद के अभाव को निर्दोष सिद्ध करता है । ॥४॥

अकार्यकारणमप्यनेकधा, विरुद्धव्याप्तादिविकल्पात् । विरुद्धव्याप्तं यथा, नास्ति भावेषु सर्वथैकांतः सत्त्वादिति, सत्त्वं खल्वनेकांतेन व्याप्तमन्यथा तदनुपपत्तेः । तथाहि—तदर्थकियाकारिण एव । व्योमारविंदादावलत्कारिणि तदभावात् । ॥५॥

अकार्यकारण भी अनेक प्रकार का है। विरुद्धव्याप्त आदि के भेद से। विरुद्धव्याप्त का उदाहरण— नास्ति भावेषु सर्वथैकांतः सत्त्वात् । पदार्थों में सर्वथा एकत्र नहीं है सत्त्व होने से। सत्त्व हेतु अनेकान्त से व्याप्त है। अनेकान्त के बिना उसकी उत्पत्ति नहीं होने से। कहा भी है— सत्त्व अर्थकियाकारी के ही होता है। अर्थकियाकारी नहीं होने पर आकाश कुसुम आदि में सत्त्व के नहीं होने से ॥५॥

तत्कारी^१ च यद्येकस्वभावः, अत एकमेव कार्यमवेद्व देशादिभिन्नमनेकम् । अन्यथा सकलस्यापि जगत् एकहेतुकत्वापत्तेः । सहकारिभेदादेकस्वभावादपि तदनेकमुपपत्रमेवेति चेत्, तद्देदस्यैव तर्हि तत्र हेतुत्वं, तदनुत्तयैव तस्योत्पत्तेत्रैकस्वभावस्य विपर्ययात् । तस्यापि तदा^२ मावादेतुत्वेऽतिप्रसंगतत्काल भाविन् सर्वस्यापि तत्र तत्त्वापत्तेः । नैकस्वभावस्य नाऽपि सहकारिभेदस्य तत्र हेतुत्वं, तत्समुदायस्यैव तत्त्वादिति चेत्, तस्यैव तर्हि सत्त्वं स्यान् प्रत्येकं समुदायिनां न च तदमाये समुदायस्यापि तत्तदव्यतिरेकिणस्तस्याप्रतिवेदनादित्य— नकस्वभावस्तैऽनेककार्यकारित्वमन्यनुज्ञातव्यम् । अनेकस्वभावत्वं च तस्य स्वकारणात्थाविधात्तस्याऽपि तत्त्वं तथाविधात्तद्वेतोरिति नानवस्थानमत्र— दोषस्तत्प्रबंधस्यानादित्वादित्युपपत्रमनेकांतव्याप्ततया सत्त्वस्य तद्विरोधिसर्वथै— कांतप्रत्याख्यानं प्रति साधनत्वम् । ॥६॥

प्रश्न कहते हैं—अर्थकियाकारी यदि एक स्वभाव वाला है तो उससे एक ही कार्य होना चाहिये, देश, काल आकार आदि भिन्न अनेक कार्य नहीं, अन्यथा संपूर्ण संसार का एक ही कारण होने का प्रसंग आयेगा। सहकारी के भेद से एकस्वभाव वाले से भी अनेक कार्य उत्पन्न होते ही हैं, यदि ऐसा कहते हो तो उसके भेद को ही उसका हेतु होना चाहिये, उसके बाद उसी से (सहकारी के भेद से) ही कार्य की उत्पत्ति होने से एक स्वभाव को कारण नहीं रामना चाहिये विपर्यय होने से। अनेक कार्य की उत्पत्ति के समय एक स्वभाव वाले भाव के भी होने से उसको भी हेतु मानने पर अतिप्रसंग ही जायेगा, उस समय होने वाले सभी भाव को हेतुत्व का प्रसंग आने से। अतः न तो एक स्वभाव वाले भाव

^१ घटतः ।

^२ अर्थ कियाकारी भावः ।

^३ अदिशब्देन कालकारश्योर्ग्रहण ।

^४ अनेककार्योत्पत्तिवेताणां ।

^५ वस्तुतः ।

को सहकारी भेद को हेतुपना है। उसके समुदाय को ही हेतुत्व है, यदि ऐसा कहते हों तो समुदाय को ही सत्य होगा। चाहिये, समुदाय में प्रत्येक को नहीं। एक स्वभाव वाले भाव के अभाव में समुदाय को भी हेतुत्व नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले समुदाय के प्रतिवेदन भी होने से। अतः अनेक स्वभाव वाले भाव को ही अनेक वस्तु का कार्यकारी जानना चाहिये। भाव का अनेकरवभावत्व उस प्रकार के अपने कारण से, उसका भी अनेक स्वभावत्व उस प्रकार के उसके अपने कारण से होता है, यहाँ अन्यथा दोष नहीं है। उस परंपरा के अनादि होने के कारण। अतः सत्य को अनेकान्त से व्याप्त होने के कारण उसके विशेषी एकान्त के निराकरण के प्रति हेतुत्व ठीक ही है। ॥१६॥

विरुद्धसहचरं यथा—नास्य मुनेर्मिश्याज्ञानं सम्यग्कृदर्शनं^१ तत्साहयर्थनियमेन सम्यग्ज्ञानं^२ मुपसर्पयत्तप्रत्यनीकमिश्याज्ञानं^३ प्रत्यवायमुपपादय तीत्युपपत्रं तत्र तस्य लिंगत्वं। विरुद्धसहचरस्य कारणमत्रैव साध्ये 'तत्वाधि-गमादिति, कार्य चानुकंपाऽस्तिक्यादिरिति। तत्वाधिगमो हि सम्यग्कृदर्शनस्य कारणमनुकंपादि च कार्यमविनाभावनिर्णयात् सम्यग्ज्ञानसहभाविनस्तस्य भावभवद्योधयमिश्याज्ञानव्युदासाध्यवसायमासादयति। एवमन्यदपि विधिरूपं प्रतिषेधलिङ्गं प्रतिपत्तव्यम्। ॥१७॥

॥१॥ विरुद्धसहचरः यथा लिंगमेन विरुद्धः अनुकंपाऽस्तिक्याज्ञानः तत्वाधिगमात् सम्यग्कृदर्शन के साथ सम्यक ज्ञान के होने का नियम होने से सम्यग्कृदर्शन सम्यक ज्ञान को बताता हुआ उसके विपरीत मिश्या ज्ञान के अभाव को बताता है। अतः यहाँ सम्यग्कृदर्शन को हेतुत्व रिद्ध होता है। विरुद्ध सहचर का कारण इसी साध्य में "नास्य मुनेर्मिश्या ज्ञानं तत्वाधिगमात्" कार्य अनुकंपा आस्तिक्य आदि ह। तत्वाधिगम सम्यग्कृदर्शन का कारण है और अनुकंपा आस्तिक्य आदि सम्यग्कृदर्शन के कार्य है। ये अविनाभाव के विर्णव से सम्यग्ज्ञान के साथ होने वाले अनुकंपादि के भाव को बताते हुए मिश्याज्ञान के अभाव का निश्चय करता है। इसी प्रकार अन्य भी विधिरूप प्रतिषेधलिङ्ग ज्ञानना चाहिये। ॥१७॥

प्रतिषेधरूपमपि लिंगमनेकधा तत्र स्वभावानुपलंभो यथानास्ति बोधत्वनि^४ रूपादिमत्वमनुपलंभात् खरमस्तके विषाणवदिति। न चेदमत्र मंतव्यं परमाण्वादेः सतोऽपि क्वचिदनुपलंभाद् व्यभिचार इति, ततः^५ प्रकृतानुपलंभस्य^६ गोपालकलशधूमादेः पर्वतधूमादेरिव विलक्षणत्वेन तद्वोषोपनिपाताभावात्। तर्हि दृश्यविषयत्वमेव ततस्तस्य वैलक्षण्यमिति दृश्यानुपलंभस्यैव हेतुत्वमिति चेत् न अदृश्यानुपलंभस्याप्यात्मनि पिशाचरूपत्वाभावे गमकत्वात्, अन्यथा पिशाचो

^१ सम्यग्ज्ञानः।

^२ उपनयत्।

^३ अभावः।

^४ तत्वार्थोपदेशाश्रहमादिभाव अत्यधीनां अनुकंपार्थकमवधारण हि अक्षणमत्रेष्टमन्यमाऽप्य ग्रहभावाभत्वात्।

^५ वेतसि।

^६ परमाण्वादानुपलंभात्।

^७ रूपादिभावानुपलंभस्य।

नाहमस्मीति व्यवहारानुपपत्ते । न च पिशाचस्यादृश्यत्वे तदव्यतिरेकिणस्तु 'द्रूपत्वस्य
दृश्यत्वम्' । आत्मनोऽदृश्यत्वेन तदभिज्ञतया ऽदृश्यत्वमपि तस्येति चेत्, नेदानीभेकात्—
तस्तदनुपलंभस्याभावं प्रतिगमकत्वं, दृश्यादृश्यविषयतया संशयनिबंधनत्वात् ।
तत्र दृश्यविषयतयैव गमकत्वमनुपलंभस्याविनाभावनियमनिर्णये तदपरस्यापि
तदुपपत्ते ॥ १९८ ॥

प्रतिषेधरूप लिंग भी अनेक प्रकार का है—स्वामायानुपलंभ का लापाहरण—'नास्ति
बोधात्मस्मि रूपादिभूत्वमनुपलंभात् रवस्मस्तके विषयत्वत्'। यहाँ यह मानना कि परमाणु आदि
के रूपादिभूत्व होने पर भी कहीं अनुपलंभ होने से अनुपलंभात् हेतु व्याभिचारी है, ठीक नहीं
है। परमाणु आदि के अनुपलंभ से रूपादिभूत्व के अनुपलंभ को विलक्षण होने से
गोपालकलश के धूरं और पर्वत के भूम के विलक्षणत्व के समान अतः परमाणु आदि के होने पर
भी कहीं अनुपलंभ होने से बोधात्मा में रूपादिभूत्व के अनुपलंभ को कोई दोष नहीं
है। परपक्ष कहते हैं—तब दृश्यविषयत्व ही परमाणु आदि के अनुपलंभ से बोधात्मा में रूपादि
के अनुपलंभ को विलक्षणत्व है। आचार्य कहते हैं यह कहना ठीक नहीं है अदृश्यानुपलंभ को
भी आत्मा में पिशाचरूपत्व के अभाव में गमकत्व होने से अन्यथा पिशाचो नाहमस्मिति यह
नहीं हो सकता। आत्मा के अदृश्य होने के कारण उससे अपिन्न होने से पिशाचत्व को भी
अदृश्यत्व है यदि ऐसा कहते हो तो एकान्त रूप से अनुपलंभ हेतु ही आत्मा में रूपादिभूत्व
के अभाव के प्रति गमक नहीं है दृश्य अदृश्य विषय के कारण संशय का कारण होने
से। अतः दृश्य विषय के कारण ही अनुपलंभ हेतु गमक नहीं है, अविनाभाव नियम का निर्णय
होने पर अदृश्य विषय को भी गमकत्व हो सकता है ॥ १९८ ॥

कारणानुपलंभो यथा—न तत्र गृहे पाकसंभवः पावकानुपलब्धेरिति ।
कार्यस्यानुपलंभस्तु नाऽत्र शरीर बुद्धिव्यापारादिविशेषादेनुपलब्धेरिति । कार्यविकल—
स्यापि कारणस्य संभवाज्ज तद्वैकल्यात्तदभावप्रतिपत्तिरिति चेत्, कथमिदानी
^३क्वचिन्मरणस्यावगमो यतस्तत्र^४ दाहादिकमाघरेत्, ^५प्रकारात्तरेण
तत्प्रतिपत्तेरभावात् । ततः सत्यविनाभावनिर्णये कार्यवैकल्यादुपपत्रैव कारणस्या
भावप्रतिपत्तिः । न तत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेरिति व्यापकानुपलब्धिः । अस्याशय तं
प्रति प्रयोगो यस्य क्वचिद्वृक्षविकलेऽपि तत्सदृशाकारदर्शनेन शिंशपाबुद्धिः । कथं
पुनः शिंशपाव्यापकत्वं वृक्षस्य? लताशिंशपाया अपि लताचूतवत्संभावनादिति चेत्,
कथमेवं कारणत्वमपि धूमादौ वहे? अवहिकरस्यापि तस्य गोपालकलशादौ
दर्शनात् । अन्य एव स धूमादिर्वहिहेतुकात्तत इति चेत् न, वृक्षव्याप्तायास्ततो
लताशिंशपाया अपि ^६सम्बन्धत्वाविशेषात् नास्त्यस्य ^७तत्त्वज्ञानं

^१ पिशाचत्वमिति शावत् ।

^२ अन्यः कर्त्तिव्यहृष्टिः ।

^३ प्राणिनि ।

^४ गृहे ।

^५ व्यापारादिविशेषानुपलब्धिः विहायाऽन्येभ ।

^६ लताशिंशपा नास्त्येत् यदिः सम्बन्धेऽपि ।

सम्यगदर्शनाभावादिति सहचरानुपलब्धिः व्यभिचारी हेतुरसम्यगदृशोऽपि^१ रूपादौ तत्त्वज्ञानस्य भावादिति चेत् न तेन रूपादेरित्थंभावनिर्णयाभावात् । न ह्यैनुपकांततत्त्रिर्णयं तत्त्वज्ञानं नाम बालोन्मत्तादिज्ञानवत् । तत्र व्यभिचारकल्पनमत्र । न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटोदयः कृतिकोदयानुपलब्धेरिति पूर्वचरानुपलब्धिः । मुहूर्तात् प्राक् नोदगाद्भरणिः कृतिकोदयानुपलब्धेरिति उत्तरचरानुपलब्धिः । एवमन्यान्यपि विविधप्रतिषेधं — लिंगानि प्रतिपत्तव्यानि ॥१०९॥

कारणानुपलब्धे का उदाहरण— “न तत्र गृहे पाकसंभवः पावकानुपलब्धे” कार्यानुपलब्धे— “नात्र शरीरे बुद्धिव्यापारादि विशेषानुपलब्धे” । यदि यह कहो कि कार्य से रहित भी कारण होता है अतः कार्य के अभाव में कारण के अभाव की प्रतिपत्ति नहीं होती तो फिर कहीं मृत्यु का ज्ञान कैसे होता है, जिससे मृत व्यक्ति में दाहादि किया की जाय, व्यापारादि विशेष की अनुपलब्धि के अतिरिक्त मृत्यु की प्रतिपत्ति नहीं होने से । अतः अविनाभाय नियम का निर्णय होने पर कार्य के नहीं होने पर कारण के अभाव का ज्ञान होता ही है । व्यापकानुपलब्धि का उदाहरण— “न तत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे” । इसके संबंध में यह भी कहा जाता है कि कहीं वृक्ष के बिना शिंशपा के आकार को देखने से शिंशपा की प्रतिपत्ति होती है अतः शिंशपा वृक्ष का व्यापक कैसे हैं? लता आम के समान लता शिंशपा की भी संभावना होने से, यह कहना ठीक नहीं है । इस प्रकार धूएं आदि में अग्नि का कारणत्व कैसे होगा? गोपालकलश आदि में बिना अग्नि के भी धूआं देखे जाने से । अग्नि से होने वाले धूएं से वह धूआं अन्य ही है, यदि यह कहते हों तो वृक्ष से व्यापक शिंशपा से लताशिंशपा की संभावना होने पर वह भी उससे अन्य है, यह बात यहाँ भी समान है ।

सहचरानुपलब्धि— “नास्त्य तत्त्वज्ञानं सम्यगदर्शनाभावात्” यदि यह कहो कि सम्यकदर्शन के बिना भी रूपादि में तत्त्वज्ञान होने से सम्यगदर्शन हेतु व्यभिचारी हैं तो यह कहना ठीक नहीं है, सम्यकदर्शन के बिना होने वाले रूपादि ज्ञान में इत्थंभाव निर्णय का अभाव होने से इत्थंभाव के निर्णय के बिना तत्त्वज्ञान नहीं होता, अज्ञानी और उन्मत्त के ज्ञान के समान अतः यहाँ व्यभिचार की कल्पना नहीं होती ।

पूर्वचरानुपलब्धिः— “न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटोदयः कृतिकोदयानुपलब्धे” । एक मुहूर्त के बाद शकट का उदय नहीं होगा, कृतिकोदय की उपलब्धि नहीं होने से । **उत्तरचरानुपलब्धि—** मुहूर्तात्प्राक् नोदगाद्भरणिः कृतिकोदयानुपलब्धे । एक मुहूर्त पहले भरणि का उदय नहीं हुआ कृतिकोदय के उपलब्ध नहीं होने से । इस प्रकार अन्य भी विविध प्रतिषेधलिंग ज्ञानने थाहिये ॥१०९॥

यदि ‘तत्प्रभवमनुमानं, प्रमाणमेव तद्विषयकथं तस्य तदाभासतत्वमभपीति चेत्, रवार्थव्यवसायवैकल्यात् प्रत्यक्षवत् द्रुश्यते हि प्रत्यक्षस्य तद्वैकल्यं क्वचिदव्युत्पत्त्याऽस्त्वनः’, क्वचित्संशयात्मनः, क्वचिद्विपर्यासात्मनश्च, तस्य तत्र प्रतीतेः । तदप्यतरं गावरणोदयाद्विरंगादिंद्रियदोषादाशुभ्रमणादेरपि ।

^१ सम्यगज्ञानमिति यावत् ।

^२ पुंस इति शोक ।

^३ अकृततत्त्रिर्णय ।

^४ लक्ष्मदेव लिङ्गहृष्ण ।

^५ अनन्धयक्षसायात्मनः ।

तद्वदनुमानेऽपि । गृहीत्वा प्रयुक्तस्तर्वत्वे गच्छ इति तत्त्वं अभिवृत्यास्य
हेत्याभासादे'स्तद्वेतोर्भावात् ॥100 ॥

४

यदि लिंग से होने वाला अनुभान प्रभाण ही है तो किसी अनुभान को अनुभानाभासत्व कैसे है? आचार्य कहते हैं स्वार्थ व्यवसाय रहित होने के कारण प्रत्यक्ष के समान प्रत्यक्ष को भी कहीं स्वार्थव्यवसाय से रहित देखा जाता है, कहीं अनध्यवसायात्मक को कहीं संशयात्मक को और कहीं विपर्ययात्मक को वहाँ प्रत्यक्ष की प्रतीति होने से। वह भी अन्तरंग आवरण के उदय से बहिरंग इन्द्रिय दोष से तथा शीघ्र भ्रमण आदि के कारण, उसी प्रकार अनुभान में भी उस अन्तरंग और बहिरंग हेत्याभास, पक्षाभास आदि उसके हेतु के होने से अनुभानाभास भी होता है ॥100 ॥

तत्र त्रिविधो हेत्याभासः, सिद्धानैकान्तिकविरुद्धविकल्पात् असिद्धोऽपि त्रिविध एव, स्वरूपाङ्गातसदिग्धासिद्धविकल्पात् तत्र स्वरूपासिद्धो यथा-नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वादिति । न हि शब्दस्य चाक्षुषत्वं आवणत्वस्यैव तत्र ^२भातः प्रतिपत्तेः । अज्ञातासिद्धस्तु शब्दानित्यत्वे सर्वोऽपि कृतकत्वादिः । न हि तस्य कुतश्चित्परिज्ञानं प्रत्यक्षस्य स्वलक्षणविषयतया ^३सामान्यात्मनि तस्मिन्विकल्पस्य च 'स्वाकारपर्यवसायित्वेनाप्रवृत्तेः । विकल्पाकार एव सोऽपीति चेत्, कथमिदानीं तस्य पक्षाधर्मत्वं शब्दे' धर्मिण्यभावात् । तत्र ^४'तस्यारोपादिति चेत् न, तत्र तस्येति प्रत्यक्षविकल्पयोरन्यतरेणाप्यशक्यपरिज्ञानत्वात् अन्यतरासिद्ध'

एवायं कस्मात् भवति मीमांसकस्य शब्दे तदभिव्यक्तिवादिनः कृतकत्वादेभावादिति चेत् न, शक्यसमर्थनत्वे तस्य तं प्रत्यपि सिद्धत्वात्, अशक्यसमर्थनत्वे च स्वरूपासिद्ध - एवांतर्भावात् तन्नान्यतरासिद्धो नाम ॥101 ॥

हेत्याभास तीन प्रकार का है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक के भेद से। असिद्ध भी तीन प्रकार का है—स्वरूपासिद्ध, अज्ञातासिद्ध और विरुद्धासिद्ध के भेद से। वहाँ स्वरूपासिद्ध का उदाहरण है—नित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्। शब्द चाक्षुष नहीं है स्वरूप से उसके आवणत्व की प्रतिपत्ति होने के कारण। अज्ञातासिद्ध शब्द को अनित्य सिद्ध करने भैं कृतकत्वादि सभी हेतु हैं। उसका किसी भी प्रभाण से ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष (निविकल्प)? का स्वलक्षण विषय होने के कारण अनुगताकार शब्द में और विकल्प को स्वर्संवित्तिभाव में सीमित होने के कारण उसमें प्रवृत्ति नहीं होने से। यदि यह कहो कि कृतकत्व भी विकल्पाकार है तो फिर उसको पक्षाधर्मत्व कैसे होगा? स्वलक्षण शब्द रूप धर्मी में उसका अभाव होने से। यदि यह कहो कि शब्द में विकल्पाकार कृतकत्व आदि का आरोप होने से

^१ आदिशब्देनपक्षाभासादिकं ग्राद्यं ।

^२ स्वरूपतः ।

^३ अनुगताकारे ।

^४ रक्षसविन्मात्रपर्यावर्सितत्वेन ।

^५ स्वलक्षणे ।

^६ विकल्पाकारकृतकत्वादे ।

^७ वादिप्रतिवादिनोर्ध्य एकस्थासिद्धः ।

पक्षधर्मत्व ही जायगा तो यह कहना भी ठीक नहीं है शब्द में गिरल्याकार कृतकत्व आदि को शिरिकत्व प्रत्यक्ष या विकल्प में से किरणी के द्वारा न जाना जा सकने के कारण। अच्छाभिव्यक्ति वाली भीमांशक के यज्ञों कृतकत्व आदि का अभाव होने से कृतकत्व हेतु अन्यतरासिद्ध है, यह कहना भी ठीक नहीं है, शब्द समर्थन होने पर उनके लिये भी सिद्ध ही है, अशक्त समर्थन होने पर स्वल्पासिद्ध में ही आन्तर्भाव ही जाने से अन्यतरासिद्ध नामक कोई असिद्ध हेत्वाभास नहीं है। ॥101॥

संदिग्धासिद्धः पुरुष्णामोऽस्मां वास्तवादिर्लोऽवलिः लोकाभावात् शूलसाम्बूङ् ॥ । न हासौ पावकप्रतिपत्तौ ^३धूमतयोपदिष्टो गमको भवति निश्चितस्यैव तत्त्वोपपत्तेः, संदिग्धस्य चानिश्चितत्वात् ॥102॥

संदिग्धासिद्ध--मशकादि समूह को देखकर यह धूआँ है या भाप आदि। इस प्रकार का संदेह होने पर “बहिरत्र धूमात्” यहाँ आग है धूआँ होने से, इस प्रकार धूएं से आग के अनुमान के समर्त मशकादि समूह गमक नहीं हो सकते। निश्चय हेतु को ही गमक होने से और संदिग्ध के अनिश्चित होने से। ॥102॥

^३प्रतिज्ञार्थकदेशासिद्धस्तर्हि वस्त्रव्यः, तद्यथा—अनित्यः शब्दः शब्दत्वादिति । शब्दस्य हि साध्यधर्मिसमुदायरूपप्रतिज्ञार्थकदेशतया साध्य—धर्मवदसिद्धत्वात्र हेतुत्वमिति चेत् तर्हि धर्मित्वमपि न भवेदिति कथं शब्दानित्यस्ये कृतकत्वादेरपि हेतुत्वमाश्रयासिद्धः। समुदायरूपतयैव^४ शब्दस्य साध्यत्वं न पृथगपि प्रसिद्धत्वात् सतो धर्मित्वमिति चेत्, ^५“हेतुत्वमपि स्यादविशेषात् । धर्मित्वं प्रत्युपक्षीणस्य तस्य कथं हेतुत्वमिति चेत् न, धर्ममेदात्रहि येनैव^६ तस्य धर्मित्वं साध्यधर्म प्रत्यधिकरणभावेन तेनैव तस्य हेतुत्वमपित्वाविनाभावनियमेन । कथं पुनर्विपक्षव्यावृत्तिर्यदनित्यत्वे तस्य तत्रियम् इति चेत्, ^७‘कृतकत्वादेरिय सत्त्वविशेषादेव । न चैव^८ सत्त्वादेव^९ साध्यसिद्धेविफलत्वं शब्दत्वस्य^{१०} कृतकत्वादेरपि तत्परंगात् कथं वा शब्दस्य प्रतिज्ञार्थकदेशत्वं, शब्द^{११} शब्दनिर्दिष्टस्य तद्विशेषस्यैव तत्वात्र शब्दसामान्यस्य तत्कथं तस्या^{१२}सिद्धत्वं? शब्दशब्देनाऽपि

^१ मशकादिसमूह ।

^२ भूतसंघातं दृष्टा धूणोऽमं वाषादिति तेलि संदेहे समृतपत्रे वडिलत्र धूमादिलि ।

^३ दीढस्य मतं, प्रतिज्ञा एव धर्मधर्मिसमुदाय एवार्थ प्रतिज्ञार्थस्तस्यैकदेशा सत् हेतुर सिद्ध इत्यर्थ ।

^४ परवादी ।

^५ औन

^६ स्यखेषण ।

^७ कृतकत्वादेव यस्या शत्वविशेषत्वादिपक्षव्यावृत्तिः ।

^८ सतीति शेष ।

^९ साधनादेव ।

^{१०} साधनस्य ।

^{११} शब्द इति शब्द शब्दशब्द ।

^{१२} शब्दत्वस्य ।

सामान्यस्यैव निर्देशादिति चेत्, विफलमिदानीं सत्त्वाद्यनुभानमपि¹ ब्रह्मत्यक्षरस्य
 प्रत्यनंगत्वात्। वरस्तुनि हि शब्दविशेषे² ततो नित्यत्वव्यावस्थिती तस्य तदगत्वं
 नावस्तुनि सामान्ये। नाय दोषः सामान्यानित्यत्वेन विशेषानित्यत्वस्य लक्षणादिति³
 चेत्, लिंगादेव कुलो न ललक्षणं⁴? विशेषाणामानंत्येन तत्र लिंगप्रतिबंधस्य
 दुरवगमादिति चेत् न, सामान्यप्रतिबंधस्यापि⁵ तदविशेषात्। तत्र सामान्यस्य
 धर्मित्वं विशेषस्यैव तस्यात्। कथं तस्य प्रतिज्ञार्थेकदेशत्वेनासिद्धत्वे
 सामान्यस्यापि तस्य?⁶ विशेषादन्यस्य सामान्यस्यैवाभावादिति चेत्र निर्दिदानीं
 लिंग नाम सत्त्वादेशपि तथा विधस्याभावात्⁷ भाव एव सत्सदित्यनुगमप्रत्ययस्य
 तद्विषयस्य भावादिति चेत् न, शब्दः शब्द इति तत्प्रत्ययस्याविशेषात्। तत्र
 शब्दानित्यत्वे⁸ शब्दत्वस्यासिद्धत्वं। नाऽपि रूपाद्यनित्यत्वे रूपादित्यस्य शब्दत्वेन
⁹ समानयोगक्षेमत्वात्। नाऽप्यनित्यः शब्दोऽनित्यत्वादित्यस्य प्रतिज्ञार्थेकदेशत्वेना
 सिद्धत्वं शब्देऽपि तदापत्त्या तस्य धर्मित्वाऽभावप्रसंगात्, समुदायापेक्षया¹⁰ ऽपि
 तस्यापि तदवयवत्त्वाविशेषात्। कुतस्तर्हि¹¹ तस्यासिद्धत्वमिति चेत्,¹² तर्हि
 स्वरूपत एवाभिर्णयाद्वत्। स्वरूपासिद्धत्वादेवायमहेतुरिति चेत् न,
 शब्दावच्छिङ्ग¹³स्यानित्यत्वस्य साध्यत्वात्। न घ तस्य हेतुत्वं अनित्यमात्रस्य
 तत्वात्, तत्र¹⁴ घ मीमांसकस्याप्यविवादात्, अन्यथा घटादावपि तदभावाप्ते:¹⁵।
 कथं पुनः शब्दानित्यत्वाभावे तन्मात्रस्यानुपपत्तिर्यतस्तदनित्यत्वे तस्य हेतुत्वमिति
 चेत् न, ¹⁶ शब्दवस्तदभावेऽपि घटादे¹⁷ वस्तुत्वाव्याघातात्।

¹ यत्सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरं सैङ्गच शब्द इत्याद्यनुभानं।

² शब्दत्वलक्षणे।

³ अनित्यः शब्दः कृतकत्वादित्यनुभानात् शब्दसामान्यस्यानित्यत्वेन साधितेन तद्विशेषाणामनित्यत्वस्य
लक्षितलक्षणलया लक्षणाल्परिज्ञानात्यकुतः शब्दसामान्यस्य शब्दतिशेषैः साहायिनाभावात्।

⁴ विशेषनित्यत्वपरिज्ञानं।

⁵ अविनाभावस्य।

⁶ सामान्येन सह भावस्याविनाभावे दुरवगमत्वाविशेषात् कुतस्तरस्यायानित्यात्।

⁷ परवानी।

⁸ परो वक्ति तथापिधसत्त्वादिरेत्।

⁹ साध्यनस्य।

¹⁰ आक्षेपसमाधानस्तः।

¹¹ अन्यथेति शब्दः।

¹² साध्यरूपस्य साधनस्य।

¹³ तटरस्यो द्रूते।

¹⁴ विशिष्टस्य।

¹⁵ शब्दरस्यैव नाभ्युपगम्यते नित्यत्वं नान्यत्र।

¹⁶ अनित्यत्वस्य मात्रविवादाविशेषात्।

¹⁷ शब्दनित्यत्वमध्ये वस्तुत्वमित्यज्ञाता घटादावप्यनित्यत्वं मतंरण वस्तुत्वमित्यज्ञातां सथाचानित्यमात्रमवलोकेन
सिद्धयति, अन्यथाऽनुपपत्तिप्रतिपादिता भवतीत्यत्रावगंतव्यम्।

¹⁸ शब्दवदिति, यथा शब्दस्यानित्यत्वाभावेऽपि वस्तुत्वमुपपत्तिप्रतिपादिता अनित्यत्वाभावेऽपि
वस्तुत्वमव्याप्तिरमिति वस्तु किमप्यनित्यं न स्यात् नवीनं ततः कारणाद्वस्तुत्वस्य घटादावनित्यत्वेन

तद्वस्तुत्यवच्छब्देऽप्यनित्यत्वसाभान्यस्यापि तद्विशेषेऽन्यथाऽनुपपत्तिमत्त्वादुपपक्षमेव हेतुत्यम् ॥103॥

तब प्रतिज्ञार्थीक देशसिद्ध मानना चाहिये जैसे—अभित्य शब्दः शब्दत्वात् शब्द को साध्य धर्मे धर्मिं के समुदाय रूप प्रतिज्ञार्थी के एक देश में रहने के कारण साध्य धर्म (अभित्यत्व) वाला सिद्ध नहीं होने से हेतुत्य नहीं है, यदि ऐसा कहते हो तो फिर धर्मित्व भी नहीं होना चाहिये, फिर शब्द को अनित्य सिद्ध करने में कृतकल्प आदि भी कैसे हेतु होंगे शब्द रूप धर्मी (आश्रय) के ही असिद्ध होने से परवादी कहते हैं—धर्म धर्मी के समुदाय रूप से ही शब्द को साध्यत्व है, पृथक नहीं, प्रसिद्ध होने से, अतः धर्मित्व है यदि ऐसा कहते हो तो शब्दत्व को हेतुत्य भी हो जायगा, दोनों में समानता होने से धर्मी के प्रति शक्तिहीन होने पर उसको हेतुत्य कैसे होगा? यह कहना ठीक नहीं है, धर्मभेद होने से साध्य धर्म का अधिकरण होने से जिस स्वरूप से उसको धर्मित्व है, उसी स्वरूप से हेतुत्य भी नहीं है, अपितु अविनाभावनिधम भी हेतुत्य है। फिर विपक्ष व्यावृत्ति कैसे है? जिससे शब्द के अनित्यत्व में शब्दत्व के अविनाभाव का नियम हो यदि यह कहते हो तो सत्त्वादिशब्द से कृतकल्प आदि के समान ही विपक्ष व्यावृत्ति है। सत्य हेतु ले ही साध्य (अनित्यत्व) की सिद्धि हो जाने से शब्दत्व हेतु विफल है, यह भी नहीं कह सकते कृतकल्प आदि में भी विफलत्व का प्रसंग आने से शब्द को प्रतिज्ञार्थीकदेशत्व कैसे है? शब्द शब्द से निर्दिष्ट शब्द विशेष को ही हेतु होने से शब्द सामान्य को नहीं अतः शब्दत्व हेतु को असिद्धत्व कैसे है? शब्द शब्द से भी सामान्य का ही निर्देश होने से यदि यह कहते हो “सर्वज्ञिक सत्यतात्” यत्सत् सत्त्वादिक संश्च शब्दः यह अनुभाव भी विफल ही जायगा। वस्तु (शब्द) को अवरथा (अभित्यत्व) सिद्ध करने में असमर्थ होने से वस्तु शब्द विशेष में सत्यादि हेतु से अभित्यत्व की व्यवस्था करने में उसको उसका कारणत्व है। अथस्तु सामान्य में नहीं, यह दोष नहीं है—“अनित्यः शब्दः कृतकल्पत्वात्” इस अनुभाव से शब्द सामान्य के अनित्य सिद्ध करने से शब्द विशेष के भी अनित्यत्व का परिज्ञान होने से, शब्द सामान्य का शब्द विशेष के साथ अविनाभाव होने भी। यदि ऐसा कहते हो तो लिंग से ही विशेष के भी अभित्यत्व का ज्ञान क्थों नहीं हो जायेगा? विशेषों के अनन्त होने से उसमें लिंग के अविनाभाव का ज्ञान कठिन होने से यदि यह कहते हो तो सामान्य के भी अनन्त होने से उसमें भी लिंग के अविनाभाव का ज्ञान कठिन होने से बहां भी समानता है। अतः सामान्य को धर्मित्व नहीं है, विशेष को ही धर्मित्व होने से विशेष के प्रतिज्ञार्थीकदेशत्व से असिद्ध होने पर सामान्य को भी प्रतिज्ञार्थीकदेशत्व कैसे है? विशेष से भिन्न सामान्य का ही अभाव होने से, यदि ऐसा कहते हो तो फिर लिंग नाम की कोई वस्तु नहीं रहेगी। सत्यादि लिंग का भी अभाव होने से सत्यादि लिंग है उस विषयक सत् सत् इस अनुगम प्रत्यय के होने से, यह कहना भी ठीक नहीं है, शब्द शब्द इस प्रकार के अनुगम प्रत्यय के रहां भी उसमान रूप से होने से। अतः शब्द को अनित्य सिद्ध करने में शब्दत्व हेतु असिद्ध नहीं है। ऋषादि के अनित्य सिद्ध करने में रूपादित्व हेतु भी असिद्ध नहीं है, शब्दत्व के द्वारा आधोप का समाधान हो जाने से। “अभित्य शब्दोऽनित्यत्वात्” इस हेतु को प्रतिज्ञार्थीकदेशत्व के कारण असिद्ध नहीं कहा जा सकता, शब्दत्व में भी यह आपसि होने से उसके धर्मित्व के अभाव का प्रसंग होने से। समुदाय की अपेक्षा भी उसके भी उस समुदाय का अवयव विशेष होने के कारण धर्मित्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। फिर यह असिद्ध कैसे हैं यदि यह कहते हो तो स्वरूप से निर्णय नहीं होने

व्याप्तत्वात्, वस्तुत्यवदिति वस्तुत्वसाभान्यस्य विशेषनित्यत्वस्यवस्थापकतवनित्यत्वसाभान्यस्य तद्विशेषे निलादिष्वेऽन्यथाऽनुपपत्तिमत्त्वादुपपक्षमेव हेतुत्यम् ।

के कारण यह असिद्ध ही सकता है। स्वरूप से असिद्ध होने के कारण यह हेतु नहीं है, यह नहीं कह सकते। शब्दविशिष्ट के अनित्यत्व को सच्चाय होने के कारण अनित्यमात्र को अनित्य होने के कारण अनित्यत्व भी हेतुल्य होता है। इसके मीलालालक्ष को भी कोई विषय नहीं है, अन्यथा घटादि में भी अनित्यत्व के अभाव का प्रसंग आयेगा। शब्द के अनित्यत्व के अभाव में अनित्यत्व मात्र का अभाव कैसे होगा, जिससे शब्द हो अनित्यत्व में अभित्यत्व को हेतु माना जाय, यह कहना भी ठीक नहीं है। शब्द को समान अनित्यत्व के अभाव में भी अनित्यत्व मात्र का अभाव कैसे होगा, जिससे शब्द हो अनित्यत्व को हेतु माना जाय, यह कहना भी ठीक नहीं है। अतः वरतुत्व के समान शब्द में भी अनित्यत्व सामान्य को भी हेतुल्य सिद्ध होता है अन्यथा विशेष में भी अनित्यत्व नहीं हो सकता। ॥103॥

एवमपि न त्रित्वमेवासिद्धस्याश्रयासिद्धस्यापि मावात्।
 तद्यथा—द्रव्यमाकाशं गुणाश्रयत्वादित्याकाशासत्यवादिनं बौद्धं प्रत्यस्या—
 श्रयत्वासिद्धत्वोपपत्तेशिति चेत् न आश्रयवत्स्वरूपस्यासत्ये स्वरूपासिद्ध
 एवांतर्भावात्, सत्ये चान्यथानुपपत्तौ गमकत्यस्यान्यथा च
 व्यभिचारित्वस्यैवोपपत्तेभागासिद्धस्य तहि भावान् त्रित्वमसिद्धस्य।
 तद्यथा—चेतनास्तरवः स्वापादिति । न हि तरुषु सर्वत्र स्वापः पत्रसंकोचलक्षणस्य
 तस्य द्विदलोष्वेव भावादिति चेत्, भवत्वेवं न तथाऽपि दोषः, स्वाश्रयेषु तेन
 पशुमनुष्यादिनिदर्शनबलेनचेतनत्वं व्यवस्थापयता 'तर्वन्तरेष्वपि
 तद्व्याप्तहेतुस्थापनद्वारेण तस्य व्यवस्थापनात् । एतेऽपि^१ तरवश्चेतनास्तर्वात्
 स्वापवैत् प्रसिद्धतरुषविति । तत् नाऽस्य भागासिद्धत्वं दोषाय गमकत्याप्रतिक्षेत् ।
 एवमेव शब्दानित्यत्वे प्रथल्यानंतरीयकस्याऽपि भागासिद्धस्य निर्दोषत्वकल्प—
 नोपपत्तेः । अस्ति हि तस्यापि भागासिद्धत्वं समुद्रधोषजलधरध्वानादावभावात् ।
 विपर्यस्तासिद्धस्त्वज्ञातासिद्ध एव, न हि धूमस्तद्विपर्यासेन प्रतीयमानः स्वरूपतः
 परिज्ञातो नाम, तत्र तत्स्तस्य पृथगसिद्धत्वम्^२ ॥104॥

ऐसा होने पर भी असिद्ध तीन प्रकार का ही नहीं है, आश्रयासिद्ध के भी होने से। जैसे “द्रव्यमाकाशं गुणाश्रयत्वात्” बौद्ध आकाश को नहीं मानते, अतः उसके यहाँ यह हेतु आश्रयासिद्ध होता है, यह कहना ठीक नहीं है। आश्रय के समान स्वरूप के भी नहीं होने पर इसका स्वरूपासिद्ध में ही अन्तर्भाव हो जाने से, स्वरूप के होने पर गमकत्य की अन्यथानुपत्ति होने से, अन्यथा व्यभिचारित्य के ही होने से। तब भागासिद्ध के होने से असिद्ध तीन प्रकार का नहीं है। जैसे—“चेतनास्तरवः स्वापात्” सभी वृक्षों में स्वाप नहीं होता पत्रसंकोच लक्षण स्वाप के द्विदल वृक्षों में ही होने से, ऐसा होने पर भी कोई दोष नहीं है। उसके द्वारा पशु मनुष्यादि के निदर्शन के द्वारा चेतनत्व की स्थापना के द्वारा अपने आश्रय एकदल वाले वृक्षों में भी अव्याप्त हेतु के द्वारा चेतनत्व की व्यवस्था करने से। दूसरे (एकदल वाले) वृक्ष भी चेतन हैं चेतनत्व के कारण स्वापवाले प्रसिद्ध वृक्ष के समान। अतः इस हेतु का

^१ एकदलेषु ।

^२ एकदलाः ।

^३ अत्र मत्यर्थं प्रत्ययः ।

^४ भूतसंशातेन ।

भागासिद्धत्वं गमकत्वं के प्रति दोष का कारण भी है। इसी प्रकार शब्द के अनित्यत्व में कृतकत्व हेतु को भागासिद्ध होने पर भी निर्दोषत्व की कल्पना होती है। कृतत्व हेतु भागासिद्ध है, समुद्र की गर्जना और बाढ़ों की गडगडाहट में कृतकत्व नहीं होने से। विषयस्ता सिद्ध तो अज्ञातासिद्ध ही है। अग्रिम के बिना प्रतीत होता हुआ धूआं स्वरूप से ज्ञात नहीं है, अतः रसायनशिद्ध से प्रथमा उत्सिद्ध लाहौं कहा जा सकता है। ||104||

**अनैकान्तिकश्च पुनर्द्विधा—निश्चितसंभाव्यव्यभिचारविकल्पात् ॥निश्चितश्च
व्यभिचारस्य॑ क्वचित्पक्षैकदेशे ॥ यथा—पक्वान्येतानि फलान्येकशाखाप्रभवत्वादुप—
भुक्तफलैवदिति ॥ अस्ति ह्यत्रै तत्रैव तत्रिश्चयः पक्षीकृतेष्वेव बहुलमामेष्वैपि
प्रकृतस्य हेतोभावात् ॥ क्वचिदन्यत्र, यथा सः श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदिति ॥
अत्र ह्यन्यैव तत्रिश्चयस्तत्रैवाश्थामेऽपि तत्पुत्रस्यावलोकनात् ॥ ||105||**

अनैकान्तिक भी दो प्रकार का है—निश्चित व्यभिचार और संभाव्य व्यभिचार के विकल्प से। किसी अनुमान में पक्ष के एक देश में निश्चित व्यभिचार। यथा—पक्वान्येतानि फलान्येकशाखा प्रभवत्वादुपभुक्तफलवत्। इस अनुमान में पक्ष के एक देश में व्यभिचार का निश्चय है। पक्षीकृत एक शाखा में ही प्रायः कच्चे आमों में भी एक शाखा प्रभवत्व हेतु होने से। कहीं दूसरे अनुमान में यथा 'सः श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' यहाँ अन्यत्र ही व्यभिचार का निश्चय है अश्याम में भी तत्पुत्रत्व हेतु के होने से। ||105||

**संभाव्यव्यभिचारे ॥ यथा—विवादापन्नः पुरुषः किञ्चिज्जो रागादिमान्या
वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदिति ॥ संभावनाऽत्र व्यभिचारस्य, सर्वज्ञादपि॑ विरोधा—
भावेन वक्तृत्वादे संभवाविरोधात्॑ विरोधे वा ज्ञानप्रकर्षतारतम्ये वक्तृत्वस्या—
पकर्षतारतम्यमुपलभ्येत् ॥ न चैव सति तस्मिन् तत्राऽप्यतिशयतारतम्यस्यैव
प्रतिपत्तोस्ततोऽतिशयपर्यंतगतज्ञानस्यापि॑ संमवत्येव वक्तृत्वं ॥ न संमवति॒॑ तस्य
वीतरागत्वेन रागविशेषात्मनो विवक्षाया अमावास्तनिबंधनत्वाच्च वक्तृत्वस्येति चेत्
न, तदभावेऽपि गोत्रस्खलनादौ तस्य प्रतिपत्ते ॥ न हि तत्र यद्विषयं वचनं तद्विक्षा
विद्यते ॥ विवक्षान्तरस्य सलोऽपि हि न तद्वेतुत्वमतिप्रसंगात्॑ ॥ विवक्षापूर्वकत्वे च
वक्तृत्वस्यानम्यस्तस्यापि शास्त्रार्थस्य कश्चिद्दक्षता भवेत् तद्विवक्षायास्त्राऽपि
संभवान्नचैव व्याख्यातृसंवावैफल्यप्रसंगात् ॥ अभ्याससाहाय्ये भवत्येवेति चेत्,**

^१ अनुमाने ।

^२ अनुभुतफलवत् ।

^३ अनुमाने ।

^४ अपक्षेष्वपि ।

^५ अनुमाने ।

^६ विपक्षे ।

^७ वीतरागे ।

^८ असंमवादिति भावः ।

^९ तु ।

^{१०} वृक्षत्वगमिति शेषः ।

^{११} धर्मादिकारणस्य मृदादे परादिकारणत्वप्रसंगात् ।

सत्याभ्यासपाठवे निर्विवक्षास्यैव^१ स्वापादौ तदर्थप्रतिपादित्वस्य प्रतिपत्तेः | तत्र विवक्षावैकल्प्येन वीतरागस्य वक्तृत्वासंमङ्काल्पन्मुपकर्मण् ॥१०६॥

संभाव्यव्यभिचार-यथा “विदापनः पुरुषः किंचिङ्गो रागादिमान्वा वक्तृत्वादे अथापुरुषघटत्” यहां व्यभिचार की संभावना है, सर्वज्ञादि में भी विरोध नहीं होने से वक्तृत्वादि की संभावना का विरोध नहीं होने से। विरोध होने पर ज्ञान के प्रकर्ष का लालतम्य होने पर वक्तृत्व के अपकर्ष का तारतम्य प्राप्त होना चाहिये। किंतु ऐसा नहीं है। ज्ञान के प्रकर्ष का तारतम्य होने पर वक्तृत्व के प्रकर्ष के तारतम्य की ही प्रतिपत्ति होने से। अतः अतिशय पर्यंत प्राप्त ज्ञान वाले के भी वक्तृत्व होता ही है। अतिशय ज्ञान वाले के वक्तृत्व नहीं होता। उसके वीतराग होने से रागविशेषात्मक विवक्षा का अभाव होने से और वक्तृत्व के विवक्षापूर्वक होने से। ऐसा कहना ठीक नहीं है, विवक्षा के अभाव में भी गोप्त्रखलनादि में वक्तृत्व की प्रतिपत्ति होने से। वहां जिस विषय पर बोला जाता है, उसकी विवक्षा नहीं होती। विवक्षानंतर के होने पर भी वह वक्तृत्व का कारण नहीं होता। अतिप्रसंग होने से (घटादि के कारण मिटटी आदि को घटादि के कारण का प्रसंग होने से)। विवक्षापूर्वक वक्तृत्व होने पर शास्त्र का अभ्यास नहीं होने पर भी कोई वक्ता हो जाता। विवक्षा की वहां भी संभावना होने से, किंतु ऐसा नहीं होता व्याख्याता की सेवा के विफल होने का प्रसंग होने से अभ्यास की सहायता से वक्ता हो ही जाता है, ऐसा कहना ठीक नहीं है, अभ्यास की निरुणता होने पर बिना विवक्षा के ही स्वापादि में शास्त्रों के अर्थ का प्रतिपादन करने की प्रतिपत्ति होने से। अतः विवक्षा के बिना वीतराग के वक्तृत्व के असंभव होने की कल्पना ठीक नहीं है। ॥१०६॥

“उपपन्नमेव वैयर्थ्यात्, न हि वीतरागस्य तेन कश्चिदर्थं इति चेत् न, स्वार्थस्याभावेऽपि परार्थस्य भावात् तदृशस्य कथं परार्थेऽपि प्रवृत्तिरिति चेत्, भानोः पद्मविकासने कथं? तथास्वभावेनेति चेत्, समानमिदं भवन्त्वाऽपि ततो युक्तं सर्वज्ञादेरपि वक्तृत्वं। एवं पुरुषत्वादिकमपि, तस्यापि क्वचित्^१ सकलज्ञत्वादिना^२ जैमिन्यादौ वेदार्थज्ञत्वेनेव विरोधाभावात्।^३ सर्वज्ञादेरविद्यमानत्वान्न वक्तृत्वादिक — मित्यपि “न युक्तमन्य^४ तस्यादविद्यमानत्वस्य प्रतिपत्तावस्य वैफल्यादनेनाऽपि तदभावस्यैव किञ्चिज्ञत्वाद्युपनय^५ नेनोपस्थापनादत^६” एव तत्प्रतिपत्तावन्योन्याश्रय

^१ पुरुषः।

^२ वक्तृत्वासंभवकल्पनं।

^३ प्रयोजनम्।

^४ प्रवृत्तिरिति शेषः।

^५ तथा स्वभावेनेतीदं।

^६ पुरुषः।

^७ साकमिति शेषः।

^८ अस्त्रवादी धक्षिः।

^९ जेनो वदति।

^{१०} “अन्यत” “अतः” वैति विकल्पद्वयं त्रिमाणातरात् वक्तृत्वादिकात्।

^{११} आनयनेन।

^{१२} हितीयमिकल्पः।

—प्रमतस्ता^१ दभावप्रतिपत्ती

तत्र

वक्तृत्वादेरसंभावन् मसंभावि—

तव्यभिचाराच्चातस्तदभावस्य प्रतिपत्तिरिति । ततः स्थितं संभाव्यव्यभिद्यासत्या—
द्वक्तृत्वादेरनैकांतिकत्वमिति ॥107॥

प्रधादी कहते हैं—वीतराग के वक्तृत्व की असंभावना होती ही है वक्तृत्व के व्यर्थ होने से वीतराग का वक्तृत्व से कोई प्रयोजन नहीं है यह कहना ठीक भी है, स्वार्थ का अभाव होने पर भी पशार्थ के होने से वीतराग की पशार्थ में भी कैसे प्रदृढ़ि होगी? क्यदि वक्तृत्व कहते हों तो वैतराग के फलते की विकरिति करने में सूर्य की कैसे प्रदृढ़ि होती है? यदि सूर्य का वैश्वा रचनाव होने से कहते हों तो वीतराग को पर के लिए बक्ता होने में भी स्वभाव ही समान रूप से कारण है। अतः सर्वज्ञ आदि के भी वक्तृत्व युक्त ही हैं। इसी प्रकार पुरुषत्व आदि हेतु भी सभीचीन है। जैमिनी आदि के यहां जैसे किसी को खेद के अर्थ का झाता भाना गया है, उसी प्रकार सर्वज्ञ मामने में भी कोई विरोध नहीं है। सर्वज्ञादि के अविद्याभाव होने के कारण उसमें वक्तृत्वादि भी नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है। अन्य अनुमान से उसकी अविद्याभावनला की प्रतिपत्ति होने पर यह अनुमान व्यर्थ हो जाता है, इसके द्वारा भी किंचिज्जात्यादि से सर्वज्ञाभाव की प्रतिपत्ति होने पर अन्योन्याश्रय दोष आता है। सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि हो तो वक्तृत्वाभाव की सिद्धि हो और असंभावित व्यभिचार वाले वक्तृत्व हेतु से सर्वज्ञाभाव की प्रतिपत्ति हो। अतः संभाव्य व्यभिचार के कारण वक्तृत्वादि हेतु अनैकान्तिक ही है, यह सिद्ध हुआ ॥107॥

ननु एव^१ शब्दाभित्यत्वे प्रमेयत्वमध्यनैकांतिकभेद भवेत् तस्य नित्ये
गगनादावपि भावेन व्यभिचारादिति चेत् न तस्य कूटस्थस्य
प्रभिता^२ वनुपयोगादुपयोगे वा कुतो न सर्वदा तस्य प्रमेयत्वे?
सहकारिसञ्चित्यसमय एव तद्वादादिति चेत् न तदापि प्राच्यरूपापरित्यागेन
तदनुपत्तेः तत्परित्यागे तु परिणामि नित्यमेव। तत्र कूटस्थं न च तत्र
भावाद्वेतोव्यभिचारः^३ सप्तकभावित्वेन साच्यप्रतिपत्तिं प्रत्यानुकूल्यात्।
साध्यसप्तकत्वमपि तस्य शब्देऽपि सान्वयस्यैवा^४ नित्यत्वस्य साधनान्न निरन्वयस्य,
तद्विति प्रभितेरसंभवात्। न हि सा ततः समसमयान्निष्पत्त्वत्वेन
तस्यास्तन्निरासत्वात्^५। नाऽयतीताच्चिरतरातीतादिव कार्यकालमप्राप्तात्तोऽपि
तदनुपत्तेः। न चातत्प्रभवया तया तस्य प्रमेयत्वं “नाकारणं विषय” इत्यस्य

^१ सर्वज्ञाभावसिद्धी वक्तृत्वाभावसिद्धिरसत्त्वसिद्धी सर्वज्ञाभावसिद्ध ।

^२ धट्ट इति शेष ।

^३ अङ्गातव्यभिचारात् ।

^४ अनैकांतिकं पुनर्हित्याद्युक्तप्रकारेण ।

^५ निश्चितत्वभिचारारूपमिति भावः ।

^६ स्यप्रभितायित्वर्थः ।

^७ प्रभाणविषयत्वमेव प्रमेयत्व ।

^८ अप्रभेदः ।

^९ गगनादी हेती ।

^{१०} कथसञ्चिदभिवर्त्यव ।

^{११} निरपेक्षल्लात् ।

व्यापत्तेः कथं पुनः सान्वयविनाशोऽप्यनित्यत्वे साध्ये न व्यभिचारः प्रमेयत्वस्य
भाववदभावेऽप्यवस्तुनि भावाल् तत्र च वस्तुधर्मस्यानित्यत्वस्यानुपपत्तेरिति चेत् न
तस्य कुतश्चिदप्रतिपत्तेः व्यतिरेके च भावेभ्यस्तरस्य कुतो न तेषां
सांकर्यम्^१ | तत्संबंधादिति चेत् न, तेनाऽपि स्वतः
संकीर्णानां मनन्यथात्वस्याकरणात् करणे वा तदेव तेषाभन्योन्यमभावस्तस्य च
तेभ्योऽनर्थान्तरत्वेन तद्वेतोरेव भावादिति तस्य वैयर्थ्यमर्थात्तरस्य तस्य
प्रागभावादिभेदिनः कथचिद्भावविषयावेन तद्वेवानित्यत्वोपपत्तेः। न
तदगतत्वेनाऽपि प्रमेयत्वस्यानैकान्तिकत्वं व्यभिचारस्य निश्चितस्येव संभाव्यस्यापि
तत्राभावात् ॥108 ॥

शंकाकार कहते हैं—इस प्रकार अनैकान्तिक के दो भेद होने पर शब्द को अनित्य
सिद्ध करने में प्रमेयत्व हेतु भी अनैकान्तिक हो जायगा, उसके नित्य आकाश आदि में भी
होने से व्यभिचार होने से, यह कहना ठीक नहीं है प्रमेयत्व हेतु को कठस्थ नित्य की
प्रमिति में ही अनुपयोगी होने से, उपयोगी होने पर उसको सदा ही प्रमेयत्व कैसे नहीं
है? सहकारी के निकट होने के समय ही उसको प्रमेयत्व होने से, यह कहना ठीक नहीं है,
सहकारी के निकट होने पर भी पहले रूप (अप्रमेयत्व) का त्याग किये बिना प्रमेयत्व की
उत्पत्ति नहीं होने से और प्राच्यरूप का त्याग करने पर तो वह परिणामी नित्य ही सिद्ध
होता है। अतः आकाश कृद्वाद्वृश्च नहीं है और चूऽआद्वाद्वृश्च होते हैं वह व्यभिचार है
सप्तक में होने के कारण साध्य की प्रतिपत्ति के प्रतिअनुकूल होने से। आकाश को साध्य का
सप्तकत्व भी है शब्द में भी कथचित् अभिन्न ही अनित्यत्व की सिद्धि करने से निरन्वय
(सर्वथा भिन्न की नहीं) उसमें प्रमिति के असंभव होने से। शब्द के साथ निष्पन्न होने से तो
प्रमिति होती नहीं, उसको उससे निरपेक्ष होने से। अतीत से भी नहीं होती, चिरतर अतीत के
समान कार्यकाल में नहीं होने से अतीत से भी उसकी सत्पत्ति नहीं होने से बिना उत्पन्न
हुए प्रमिति से शब्द को प्रमेयत्व नहीं हो सकता “नाकारणं विषय” इसका व्याघात होने
से। शब्द का सान्वय विनाश होने पर भी प्रमेयत्व हेतु को अनित्य साध्य में व्यभिचार कैसे
नहीं है प्रमेयत्व हेतु को भाव के समान अभाव रूप अवस्तु में भी होने से। अभाव रूप शर्मी में
वस्तु के धर्म अनित्यत्व की उपपत्ति नहीं होने से। ऐसा नहीं कह सकते, उसकी किसी से भी
प्रतिपत्ति नहीं होने से भावों से उसके भिन्न होने पर उनका सांकर्य (घट का पट और पट
का घट होना) कैसे नहीं होगा? भाव से संबंध होने से भी नहीं कह सकते, उसके हारा भी
स्वरूप से संशिलष्ट पदार्थों का अनन्यथात्व नहीं करने से। करने पर वही उनका
अन्योन्याभाव हो जायगा उसके उभसे अभिन्न होने के कारण उसके हेतु ही होने
से। प्रागभावादि भेद धाले उससे भिन्न हेतु तो व्यर्थ ही है, कथचित् रूप से असमय रूप से
उसी के समान अनित्यत्व की उपपत्ति होने से। अतः आकाश में होने के कारण भी प्रमेयत्व
हेतु को अनैकान्तिकत्व नहीं है, निश्चित फे समान संभाव्य व्यभिचार का भी अभाव होने
से ॥108 ॥

संशयकरत्वादप्यनैकान्तिक^२ वक्तव्यं। तद्यथा—श्रावणत्वं न हि तस्य शब्दे
नित्यत्वेतरत्वं^३ योरन्यत्र हेतुत्वमनवगतविरन्वयस्य लदनुपपत्ते^४। न च तेन^५ बिना

^१ धटः पटो न भवति पटो धटो न भवतीति व्यावर्तकरणाभावस्य भावात्;

^२ संशलष्टं संशिलष्टना पदार्थानां।

^३ अभिन्नः शब्दः श्रावणत्वात्।

तस्य संभवः सर्वस्थाऽपि वस्तुसत्स्तेन व्याप्तेः। ततः शब्दे लदुपलम्यमानं तत्र
संशयमावहति, किं आवणत्वान्तित्यः शब्द आहोरिवदनित्यं इति ।^१ तस्माद—
नैकांतिकमिति चेत् न, सत्यवस्तुस्यापि तद्विशेषस्य शब्दानित्यत्वे हेतुत्वस्यैवोपपत्तिः
बहिरन्वयानवगमे कथं तदिति चेत्, ^२ सर्वानित्यत्वे सत्यस्यापि ^३ कथं? न हि
तस्यापि बहिस्तदवगमः सर्वस्य पक्षीकृतत्वेन तद्वहिगूर्तस्याभावात् । नित्यस्य
^४ 'सहक्रमाभ्यामर्थकियावैकल्प्येन व्योमारविंदवत् सत्वानुपपत्तेः । ततो निश्चितव्या—
वृत्तिकस्य तस्य पक्ष एव तदव्याप्तेरवगमादिति चेत्, सिद्धस्तर्हि आवणत्वस्यापि
तत्रैव तदवगमो विष्णवात्तत्वस्य ^५ व्यावृत्ती^६ तद्विशेषस्यापि तस्य ततोऽवश्यं तया
व्यावृत्तेर्निर्णयात् । निर्विशेषादपि सत्यात्तदनित्यत्वस्याऽपि सिद्धः किं तद्विशेषेण
आवणत्वेनेति चेत् ^७ 'नैवमृत्पतिमत्त्वादावपि प्रसंगात् । ततः सामान्यवत्तद्विशेषस्याऽपि
साध्याविनाभावनिर्णये ^८ 'कदाचित्कु' तश्चित्साध्यप्रतिपत्तेरूपपत्रं तद्विशेषस्याऽपि
आवणत्वस्य तत्र गमकत्वमतो न तस्यानैकांतिकत्वकल्पनमुपपत्रम् ॥ 109 ॥

संशय करने वाला होने से भी अनैकान्तिक कहना चाहिये जैसे
शब्दोऽनित्यः आवणत्वात् । आवणत्व का शब्द में उसके नित्यत्व या अनित्यत्व के बिना हेतुत्व
नहीं हो सकता । नित्यत्व या अनित्यत्व के बिना उसका अविनाभाव नहीं होने से । नित्यत्व या
अनित्यत्व के बिना शब्द नहीं हो सकता, सभी सत् वस्तु की नित्यत्व, अनित्यत्व से व्याप्ति
होने के कारण । अतः शब्द में उपलम्यमान आवणत्व हेतु संशय उत्पन्न करता है कि
आवणत्व के कारण शब्द नित्य है कि अनित्य? अतः आवणत्व हेतु अनैकान्तिक है, यह कहना
ठीक नहीं है । जैसे 'सर्व लक्षणिकं सत्यात् में सत्य हेतु अनित्यत्व को सिद्ध करता है उसी
प्रकार सत्यविशेष आवणत्व हेतु भी शब्द को अनित्य सिद्ध करने में हेतु ही है, नित्यत्व,
अनित्यत्व से बाहर अन्यथ का ज्ञान नहीं होने पर वह कैसे हेतु है? यदि यह कहते हो तो
सबको अनित्य सिद्ध करने में सत्य को भी कैसे हेतुत्व है? सत्य हेतु का भी बाहर अन्यथ
ज्ञान नहीं होता, सबको पक्षीकृत करने से उसके बाहर किसी का सदभाव नहीं होने
से । नित्य वस्तु में युगपत् या कम से अर्थकिया नहीं होने से आकाश कुसुम के समान सत्य
की उपस्थिति नहीं होने से । अतः निश्चित व्यावृत्ति वाले सत्य हेतु की पक्ष में (अनित्यत्व को
सिद्ध करने में) ही व्याप्ति का ज्ञान होने से, यदि यह कहते हो तो आवणत्व का भी पक्ष
(अनित्यत्व) में ही व्याप्ति ज्ञान सिद्ध हो जाता है विषम सत्य की व्यावृत्ति होने पर सत्य

^१ अनित्यत्व ।

^२ आवणत्वस्य बहिरन्वयाभावेन शब्दनित्यत्वेतरस्यांरन्यतरत्वसाधकत्वादेऽपि शब्दः
संभविष्यतीत्याकांक्षां प्रतिलिपशाहृ ।

^३ नित्यत्वेनानित्यत्वेन ।

^४ संशयमावहति यस्मात् ।

^५ सर्वमनित्यं सत्यात् ।

^६ हेतुत्वामिति शेषः ।

^७ यौगपद्धतिः ।

^८ आवणादिविशेषरहितात् ।

^९ अनित्यः शब्द उत्पत्तिभृत्यादित्यादावपि ।

^{१०} प्रयोगकाले ।

^{११} आवणत्वादिविशेषात् ।

विशेष आवणत्व की भी विपक्ष (नित्यत्व) से व्यावृति का उसी व्यावृति से अवश्य मिर्णा होने से प्रावणत्वादि विशेष रहित सत्त्व से भी शब्द की अनित्यत्व की भी सिद्धि हो जाने पर सत्त्व क्षिरोष आवणत्व की कथा आवश्यकता है? यह कहना ठीक नहीं है। उत्पत्तिमत्त्वादि में भी यही प्रसंग आने से अतः सत्त्व सामान्य के समान सत्त्व विशेष आवणत्व का भी साध्य के साथ अविनाभाव निश्चित होने पर प्रयोगकाल में आवणत्वादि विशेष से साध्य की प्रतिष्ठिति होने से भल्ल विशेष आवणत्व को भी अनित्यत्व की सिद्धि में गमकत्व है। अतः आवणत्व हेतु को अनैकान्तिकत्व की कल्पना ठीक नहीं है। ॥109॥

^१ साध्यार्थाभिनिश्चितो विरुद्धो हेत्वाभासः। स चानेकधा, धर्मतद्विशेषाभ्यां धर्मितद्विशेषाभ्यां च विपरीतस्यैव साधनात्। तत्र धर्मविपरीतसाधनो यथानीलत ज्ञानयोरभेदः सहोपलंभनियमात् द्विचंद्रवदिति। तत्साधनत्वं चाऽस्य यौगपद्यार्थं सहशब्दे तत्त्वियमस्याभेदविरुद्धे नानात्वं एव भावात्। अभेदेऽपि चंद्रद्विलये भाव इति चेत् न, तत्राऽपि ^२यथाप्रतिभासं भेद एव भावात्। यथातत्वमभेदपीति चेत् न, तदानीभभेदस्यानवभासनात् न चानवभासिनि तरिमस्तत्त्वियमस्य तदनुगमः शक्यो गत्वाभासिन्येव साध्ये तदनुगमस्य हेत्वंतरेषु प्रतिपपत्तेः। ^३सत्रपि तत्र तत्त्वियमो विरुद्ध एव ^४धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वात्। धर्मविशेषो हि नीलतज्ञानयोः सिसाध्ययिष्टां तात्त्विकमेकत्वं न च तस्यायं साधनः किं तात्त्विकस्यैव तस्यैव चंद्रद्वये स्वयं भित्त्याज्ञानविषयत्वेनानात्त्विकं भावात्। ॥110॥

साध्य के अभाव के साथ निश्चित अविनाभाव याला हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। वह अनेक प्रकार का है—धर्म तथा धर्म विशेष और धर्मी तथा धर्मी विशेष से विपरीत को ही लिद्ध करने से। धर्म विपरीत साधन—जैसे भील और नील के ज्ञान में अभेद है सहोपलंभ नियम से द्विशब्द के समान। सहोपलंभ नियम साधन धर्म विपरीत साधन है, युगपल अर्थ में सह शब्द में सहोपलंभ नियम के अभेद के विरुद्ध नानात्व में ही होने से। अन्दद्वय में अभेद में भी सहोपलंभ नियम है, यह कहना भी ठीक नहीं है, प्रतिभास के अनुसार भेद ही होने से। यथाप्रतिभासत्व अभेद में भी है, यह कहना ठीक नहीं है, उस समय अभेद का अवभास नहीं होने से। अभेद का अवभास नहीं होने पर सहोपलंभ नियम अभेद का अविनाभावी नहीं जाना जा सकता, साध्य का अवभास होने पर ही दूसरे हेतु में उसके अविनाभाव की प्रतिपत्ति होने से। अभेद में सहोपलंभ नियम होने पर भी धर्म विशेष से विपरीत का साधन होने से यह हेतु विरुद्ध ही है। क्योंकि धर्मभेद है, उसका विशेष तात्त्विकत्व है, उससे विपरीत अतात्त्विकत्व है, उसका साधन होने से वह धर्म विशेष विपरीत साधन है। धर्मविशेष नील और नील के ज्ञान में तात्त्विक एकत्व को सिद्ध करना है किंतु उसका यह साधन नहीं है, तात्त्विक उसी साधन को चन्द्रद्वितय में रख्य मिथ्या ज्ञान में होने के कारण अतात्त्विक में होने से। ॥110॥

^१ “साध्यार्थाधिनाभावविशेषनिश्चितो विरुद्धो हेत्वाभास” इत्यपि कुञ्चितपातः।

^२ कियाविशेषपामदः।

^३ सहोपलंभनियमकात्ते।

^४ धर्मविशेषविपरीतदशैनं दर्शयति।

^५ अभेदे।

^६ धर्मी भेदस्तस्य विशेषस्तत्त्विकत्वं तस्माहिपरीतमतात्त्विकत्वं तस्य साधनं तस्य भावस्तत्वं तस्मात्।

ननु एवं पाकान्वितस्यैवानित्यत्वस्य घटे दर्शनात्तरयैव शब्देऽपि कृत –
कत्त्वात्साधनं तदिति चेत् न, तत्रान्यत्र च तदन्वितस्यापि तस्य प्रतिपत्तेः । न चैव
चंद्रद्वयादन्यत्र तात्त्विकस्योमयभेदस्य प्रतिपत्तिर्यदवध्यमेन^१ नीलतद्वेदनयोरपि
तत्त्वित्यमतस्यैव हेतुर्मवेत्तातो युक्तं धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वेनास्य
विरुद्धत्वम् ॥११॥

शंकाकार कहते हैं कि इस तरह पाक किया से अन्वित अनित्यत्व को ही घड़े में
देखा जाने से उसी अनित्य को शब्द में भी कृतकर्त्त्व हेतु से शिद्ध किया जाता है, अतः वह
धर्मविशेष विपरीत साधन है, यह कहना ठीक नहीं है, घड़े में तथा पट आदि में अन्यत्र भी
कृतकर्त्त्व हेतु से अन्वित अनित्यत्व की प्रतिपत्ति होने से इस प्रकार चन्द्रद्वय के अतिरिक्त
अन्यत्र तात्त्विक दोनों के अभेद की प्रतिपत्ति नहीं होती, जिसके आधार पर नील और नील
ज्ञान में सहोपलंभ नियम अभेद का हेतु हो। अतः धर्म विशेष विपरीत साधन होने के कारण
सहोपलंभ नियम हेतु को विरुद्धत्व ठीक ही है ॥११॥

धर्मविपरीतसाधनत्वाद्वित्तिः किमुदगहरणम्? इदुपेत्तिः ॥१२॥ व्रद्युत्तिः भाव
एकद्रव्यवत्त्वाद्वद्रव्यत्ववदिति । द्रव्यत्वं हि यथा न द्रव्यं तथा न भावोऽपि तत्र यदि
तद्वेदकद्रव्यवत्त्वादावोऽपि न द्रव्यं स भावोऽपि न भवेदिति^२, तत्र, कृत –
कत्त्वस्याप्येवं “तत्साधनत्वापत्तेः । शक्यं हि वक्तुं घटस्यानित्यत्वमिवाशब्दत्वमपि ।
तत्र^३ यदि तद्वेदकृतकत्त्वादनित्यत्वं शब्दस्याशब्दत्वमपि भवेदिति^४ यदि शब्दस्या
प्रतिपत्तिराश्रयासिद्धिलिंगस्य, प्रतिपत्तावपि न तत्राशब्दत्वसाधनम् तत्पक्षस्य
तत्प्रतिपत्त्यैव प्रतिक्षेपात् । तत्कथं कृतकत्त्वस्य धर्मविपरीतसाधनत्वमिति चेत् न,
भावेऽप्येवमभावरूपत्वसाधनस्यानुपपत्तिः तरेकद्रव्यवत्त्वस्यापि तत्साधनत्वाभाव
प्रसंगात् । किं तर्हि तत्रोदाहरणमिति चेत्, क्षणभंगे सर्वोऽपि सत्त्वादिः^५, ततो हि
धर्मिणः शब्दादेस्तत्क्षण^६ एव भंगे तदभावसिद्धेरवश्यमावादन्यदा भंगस्य च
तत्क्षणभंगत्वानुपपत्तेः । तत्क्षणभंगोऽपि तस्य क्षणातरादेव व्यावृत्तिर्म स्वरूपात्
तत्रायं प्रसंग इति चेत् न, ततोऽपि तस्यान्थर्तिरत्ये प्रसंगस्यानिवृत्तेः^७ तथा
क्षणातरादपि व्यावृत्तिः स्वरूपादपि तत्प्रसंगात्कथं विदर्थतिरत्वस्य च स्याद्वाद

^१ पटायै ।

^२ सहायेन । पर्याय ।

^३ धर्मविपरीतस्योदाहरणमुक्तम् ।

^४ धर्मविपरीतसाधनत्वापत्तेः ।

^५ कृतकत्त्वानुमाने ।

^६ परं वक्ति ।

^७ सर्वसिद्धयदर्थोऽपि सत्त्वादिहेतुनाविनाशस्यभावत्वसाधनस्यानुपपत्तेः कृतः
प्रतिपत्त्यप्रतिपत्तिपक्षस्याविशेषत ।

^८ परवादी वक्ति तत्र विपरीतसाधने किमुदगहरणमिति ।

^९ तत्पत्तिमत्त्वादिः ।

^{१०} उत्पत्तिसमये ।

^{११} त्वद्वावसिद्धयोरवाक्यमेभावलक्षणप्रसंगस्य ।

विद्वेषिणामसंभवात् । संभवेऽपि विरुद्धः एव^१ तत्र^२ सत्यादिर्धर्मिविशेष
विपरीतसाधनत्यात् । धर्मिविशेषे हि परस्य^३ निष्कलः^४ शब्दस्तद्विपरीतश्च स एव
प्रवृत्तिरूपतया तु^५ द्विरूपस्तं च साधयतः स्पष्टमेव 'सत्यादेस्तद्विपरीतसाधनत्यं ।
एवं पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावादिति अस्यापि न^६ हि पुरुषस्य भोग उपचारादप्रतिपत्ते
तत्र तदनुपपत्तेरन्यतश्च तत्प्रतिपत्तावस्य वैफल्यात् । अत एव तत्प्रतिपत्तौ प्रतिपत्ते
तत्र भोगोपचारस्ततश्च तस्य प्रतिपत्तिरिति परस्पराश्रयात्तात्त्विकोऽपि च तस्मात्
व्यतिरेकी तेन तस्य गगनादेरिव भोक्तृत्यानुपपत्ते,^७ भाग्यसनिधिसव्यपक्षतया
कादाचित्कल्पे तस्य तद्रूपतया पुरुषस्य कथंचिदनित्यत्यात्, सिद्धं तस्य
साधयिषितकूटस्थपुरुषरूपधर्मिविशेषापेक्षया विपरीतत्वमित्युपपत्ते भोक्तृत्यस्य
तत्साधनतया तद्विपरीतत्वसाधनमतो विरुद्धत्वम् ॥112॥

धर्मिविपरीत साधन का वया उदाहरण है? "न द्रष्ट्य भाव एकद्व्यवचादव्यत्यक्त" द्वयत्व जैसे द्रव्य नहीं है, उसी प्रकार भाव भी नहीं है यहाँ यदि एकद्व्यवत्य के कारण भाव भी द्रव्य नहीं है, यह भाव भी नहीं होगा किंतु ऐसा नहीं है, कृतकत्व को भी इस प्रकार धर्मी विपरीत साधनत्व का प्रसंग आने से । तब यह कहा जा सकता है कि घड़े को अभित्यत्व के समान अशब्दत्व भी है । कृतकत्व अनुमान में यदि कृतकत्व के कारण अनित्यत्व है तो शब्द को अशब्दत्व भी हो जायेगा । परं पक्ष कहते हैं कि यदि शब्द की प्रतिपत्ति नहीं होने से हेतु आश्रयासिद्ध है तो प्रतिपत्ति होने पर भी अशब्दत्व की सिद्धि नहीं होगी । अशब्दत्व के पक्ष की उसकी प्रतिपत्ति होने से ही निश्चकरण हो जाने से अतः कृतकत्व को धर्मी विपरीत साधनत्व कैसे है? ऐसा नहीं कह सकते । इस प्रकार भाव में भी अभाव रूपत्व की सिद्धि नहीं होने से एकद्व्यवच्च को भी धर्मी विपरीत साधनत्व के अभाव का प्रसंग आने से । परबादी कहते हैं फिर धर्मी विपरीत साधन का वया उदाहरण है? यदि यह कहते हों तो क्षणभंग मानने पर सभी सत्यादि हेतु धर्मी विपरीत साधन के उदाहरण हैं । धर्मी शब्दादि के उत्पत्ति के समय ही विभाश हो जाने पर उसके अभाव की सिद्धि अवश्यभावी है, अन्यथा भोग का तत्क्षणभंगत्वा नहीं सिद्ध होगा । यदि यह कहो कि क्षणभंग का तात्पर्य क्षणांतर से ही व्याख्याति है, स्वरूप से नहीं, अतः इसमें अभाव का प्रसंग नहीं आता तो स्वरूप के भी उस क्षणांतर से अभिन्न होने के कारण उससे भी व्याख्याति होने पर अभाव का प्रसंग अवश्य आयेगा । अतः अभाव का प्रसंग आने पर क्षणांतर से भी व्याख्याति होगी और स्वरूप से भी क्षणांतर से स्वरूप का कथंचित् अर्थान्तरत्व स्याद्वाद विरोधियों के यहाँ असंभव ही है । संभव होने से धर्मी विशेष शब्दों का निरंश शब्द है, सत्यादि साधन उसके विपरीत हैं । स्वपररूपादि की अपेक्षा वह शब्द द्विरूप है, उसको सिद्ध करने वाले सत्यादि साधन को

^१ धर्मिविशेषविपरीतसाधनं दर्शयति ।

^२ क्षणभंगसाधये ।

^३ साधनं ।

^४ सौभाग्यतरय ।

^५ भिरेशः ।

^६ स्वपररूपस्यापेक्षया ।

^७ साधनतरय ।

^८ सत्यादिरक्षणात्तात्त्विकंन ।

स्पष्ट रूप से धर्मी विशेष विपरीत साधनत्व है। इसी प्रकार “पुरुषोऽस्ति भौत्तमाचात्” यहाँ भी पुरुष के ज्ञात नहीं होने पर उपचार से उसके भोग की सिद्धि नहीं हो सकती, अन्यप्रभाव से पुरुष की प्रतिपत्ति होने पर यह अनुभाव विफल हो जायगा। इसी अनुभाव से उसकी प्रतिपत्ति होने पर पुरुष के ज्ञात होने पर भोगोपचार और भोगोपचार से उसकी प्रतिपत्ति होने पर चरस्परशशब्द होने से तात्त्विक होने पर भी धर्मी विशेष विपरीत साधन से भिन्न नहीं है। इस अनुभाव से पुरुष के आकाश आदि के समान भौत्तत्व की उपपत्ति नहीं होने से भोग्य वस्तु के निकट होने की अपेक्षा कभी-कभी धुरुष के भौत्ता के रूप में होने पर पुरुष के कथंचित् अनित्य होने से भौत्तमाव साधन कूटरथ नित्य पुरुष रूप धर्मी विशेष की अपेक्षा विपरीत विष्णु होता है। अतः भौत्तमाचात् अनुभाव नहीं। इसका विपरीत साधन होने से विरुद्धत्व सिद्ध होता है। ॥112॥

एवं विरुद्धाव्यभिचारिणोऽपि । तत्^१ खल्विदमनित्यः शब्दः कृतकत्त्वात् घटवदिति । तदव्यभिचारित्वमस्य तत्रैव नित्यत्वसाधनस्य प्रत्यभिज्ञायभान्त्वा – देभावात् । विरुद्धत्वं निरन्वयविनाशविपरीतस्य सान्वयविनाशस्यैव साधनात् । तदपि कथं नित्यत्वहेतुना प्रतिबन्धादिति चेत् न । तद्विषयस्यापि नित्यत्वस्य सविनाशान्वयतद्विनाशादविशेषात्, कूटस्थे^२ तस्मिन्निरन्वयविनाशवदर्थकियाशक्ति वैकल्येन तदव्याप्तस्य कस्यचिदपि हेतोरसंभवात् । कथमिदानीं अविशिष्टे^३ विषये तस्य तद्विरुद्धत्वमिति चेत् न, तत्र कथंचिद्विरोधस्यापि भावात्तत्र तदव्यभिचारिणोऽनैकातिकत्वं विरुद्धत्वस्यैव भावात् । कथं वा तस्य तत्त्वं तद्वलादनित्यस्तद्विरुद्धवलात्रित्यो वा शब्द इति संशयादिति चेत्, “केवलस्यापि स्यात्ततोऽपि तत्र तत्संभवात्, कृतकत्त्वस्य निरन्वयविनाशवत् । कौटस्थ्येऽपि कात्यनिकस्य भावात्, तात्त्विकस्यानेकांतनांतरीयकत्तयोभयत्राप्यसंभवात् । ततोऽनेकांतन्यायवेदिनां विरुद्ध एव विरुद्धाव्यभिचारी, तदन्येषां तु तद्वक्तेवला अपि कृतकत्त्वादयः संशयहेतव एवानेकांतरूपप्रकियापरिव्युतानां तेषां साध्यवदि तरत्रापि संभवात् । तदुक्तम्—“विरुद्धाव्यभिचारी स्यात् विरुद्धो विदुषां मतः । प्रकियाव्यतिरेकेण सर्वे संमोहहेतवः ।” इत्यन्येषपि हेत्वाभासाः प्रतिपत्तव्याः ॥113॥

इसी प्रकार विरुद्धाव्यभिचारी भी है उसका उदाहरण है—अनित्यः शब्दः कृतकत्त्वात्संघटवत्। कृतकत्व हेतु विरुद्धाव्यभिचारी है शब्द में ही नित्यत्व सिद्ध करने की प्रतिज्ञा आदि होने के कारण। निरन्वय विनाश के विपरीत सान्वय विनाश को हेतु होने से विरुद्धत्व है वह भी कैसे है नियत्व हेतु से विरुद्ध होने के कारण यह नहीं कह सकते

^१ उदाहरणं ।

^२ सर्वेषां नित्ये ।

^३ विरुद्धत्वं नास्थनैकातिकत्वं कृतपत्तद्विपरीते वर्तमानत्यात्, प्रकृतसाध्यहृयस्याविशेषप्रतिपादनकाले युज्ञन्तेऽपि कथं भयोरन्योन्यविरुद्धत्वमित्याशक्ते परः, सान्वयविनाशसतिनाशनित्यत्वाभ्यामिति शेषः ।

^४ संदिग्धानैकातिकत्त्वादिति भाव ।

^५ केनविद्वादिना प्रत्यभिज्ञायमान्तर्जादित्येतस्य प्रतिपक्षसाधनस्याप्रयुक्तये सति केवलस्यैत्यर्थं, विष्णवसाधकरहितस्यापि ।

मित्यत्व विषय को भी सामान्य दिग्गज और निरन्यवय विनाश के समान होने से। कूटस्थ (सर्वधा नित्य) शब्द में निरन्यवय विनाश के समान अर्थ किया की शक्ति नहीं होने से। उससे व्याप्त किसी भी हेतु के असंभव होने से। फिर अदिशिष्ट विषय में उसका विरुद्धत्व कैसे है यह कहना ठीक नहीं है। यहाँ कथ्यचित् विशेष का अभी है नहीं इसीलिए अद्यविचारी अवैकाञ्जिक नहीं है, अपितु विरुद्धत्व ही है। उसको विरुद्धाव्यभिचारित्व कहने है? उसके द्वारा शब्द अनित्य है अथवा उसके विरुद्ध हेतु के द्वारा नित्य है, यह संशय होने के कारण, यह कहना ठीक नहीं है, विपक्ष साधक रहित हेतु को भी यह संशय हो जायगा, उससे भी शब्द के नित्यत्व अनित्यत्व के संशय की संभावना होने से। कृतकत्व हेतु के निरन्यवय विनाश के समान कूटस्थ नित्य में भी काल्पनिक के होने से, वास्तविक तो अनेकांत के विपरीत होने से दोनों ही जगह संभव नहीं होने से। अतः अनेकांत न्याय वेलाओं के यहाँ तो विरुद्धाव्यभिचारी भी विरुद्ध ही है, अन्य एकान्त वादियों के यहाँ तो विपक्ष साधक रहित होने पर भी कृतकत्व आदि हेतु संशय के ही कारण है, अनेकांत रूप प्रक्रिया से रहित उनके यहाँ साध्य के समान साध्य के विपक्ष में भी संभावना होने से। कहा भी है—विरुद्धाव्यभिचारी कथ्यचित् विरुद्ध भी है, ऐसा विद्वानों का मत है, अनेकांत प्रक्रिया के बिना सभी अज्ञानता के हेतु हैं। इस प्रकार अन्य भी हेत्याभास को जानना चाहिये। ॥113॥

किं पुनः साध्यं यदविनाभावो हेतुलक्षणमित्युच्यते । ‘साध्यं’ शक्यं^१
मभिप्रेतमप्रसिद्धमिति’। न डि प्रसिद्धस्य साध्यत्वं पुनः पुनरस्तत्प्रसंगेनान्—
वस्थापत्तेः। नाप्यनभिप्रेतस्य साध्यं प्रत्यभिमुखचित्तस्येव लिंगलस्तत्प्रतिपत्तेः।
नाप्यशक्यस्य तत्र हेतोरशक्तेः। ॥114॥

साध्य क्या है? जिसको अविनाभाव हेतु का लक्षण कहा है—साध्य शक्य (प्रत्यक्षादि
प्रमाणों से अवाधित) इष्ट और अप्रसिद्ध होता है। प्रसिद्ध साध्य नहीं हो सकता, पुनः पुनः
उसको सिद्ध करने के प्रसंग से अनवस्था दोष होने से। अनिष्ट भी साध्य नहीं हो सकता,
साध्य के प्रति अभिमुख विस्तवाले के समान ही लिंग से साध्य की प्रतिष्ठिति होने से। अशाध्य
भी साध्य नहीं हो सकता, वहाँ हेतु के अशक्त होने से। ॥114॥

ततोऽपरं साध्याभासं तत्त्वं प्रत्यक्षादिविरुद्धविकल्पनादनेकधा तत्र
प्रत्यक्षविरुद्धं यथा—प्रतिक्षणविशारात्वो भावा इति, प्रत्यक्षतस्तत्र
कथंचिदविशरणस्यापि प्रतिपत्तेः। लोकोपाध्यालङ्घत्वान्मिथौद तत्प्रतिपत्तिरिति चेत्
नान्यथाप्रतिपत्तेरनन्यवसायाद्विचारतस्तदन्यवसायस्य आन्यत्र^२ विशेषात्। ॥115॥

^१ अवाधितः।

^२ इष्टः।

^३ प्रसिद्धाद्यपेक्षायाऽप्रसिद्धः।

^४ पुनः।

^५ धर्मविपरीतसाधनीयाहरणनिरूपणाद्यस्त्रे।

इनसे विश्वरीत साध्याभास है। साध्याभास प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध के भेद से अनेक प्रकार का है। परत्यक्ष विरुद्ध जैसे पदार्थ प्रतिक्षण भास्त होने वाले हैं, ऐसा कहना। क्योंकि प्रत्यक्ष से कथ्यचित् अधगणिक की भी प्रतिपत्ति होती है। जोक में रुद्ध होने से यह प्रतीति मिथ्या ही है। यह कहना ठीक नहीं है, अन्यथा प्रतिपत्ति को अनिश्चयात्मक होने से, विद्यारपूर्वक उसके निश्चयात्मकता का व्यर्थविपरीत साधन के उदाहरण का निरूपण करते समय विशेष किया जाने से। ॥115॥

अनुमानविरुद्धं यथा—न संति बहिरर्था इति साधनदूषणप्रयोगादिना तत्सद्वावस्थापनात् ॥116॥

अनुमान विरुद्ध—न संति बहिरर्थाः यह कथन अनुमान विरुद्ध है, क्योंकि साधन दूषण प्रयोग आदि द्वावस्थापनात्। अनुमान विरुद्ध है, क्योंकि साधन

आगमविरुद्धं यथा—नास्ति सर्वज्ञ इति भीमांसकस्य तत्र “हिरण्यगर्भ प्रकृत्य सर्वज्ञः” इत्यादौ तत्सद्वावस्थ श्रवणात्। न तस्य तत्सद्वावेदने तात्पर्यभर्तवादत्येन^१ हिरण्यगर्भस्य सर्वज्ञतया स्तुतिविधावेव^२ तद्वावात्। अन्यथाऽऽदिमदर्थत्येन^३ तस्यानित्यत्वापत्तेरिति चेत्, कथं तत्रासता तेन स्तुतिः? अध्यारोपितेन तेनेति चेत् न, आरोपणस्य मिथ्याज्ञानत्येन वेदादसंभवादन्यथा—विधिपरोऽपि तस्मिन् अनावासापत्तेः^४ ततस्तदावेदन एव तात्पर्य तस्य। नवानित्यत्वे तस्य दोषो नित्यत्वे एव तस्य वक्यमाणत्वात् ॥117॥

आगम विरुद्ध—“नास्ति सर्वज्ञः” भीमांसक का यह कथन है। “हिरण्यगर्भ प्रकृत्य सर्वज्ञः” इत्यगदि में सर्वज्ञ के सद्भाव को ही सुना जाने से उसके सद्भाव को सिद्ध करने का कोई तात्पर्य नहीं है, गुणानुशाद के रूप में हिरण्यगर्भ की सर्वज्ञ के रूप में स्तुति करने से ही सर्वज्ञ का सद्भाव होने से अन्यथा आदिमान का अर्थ सर्वज्ञ होने के कारण उसको अभित्यत्व की आपत्ति होने से। उस असत के द्वारा सर्वज्ञ (हिरण्यगर्भ) की स्तुति कैसे की गयी? “अध्यारोपित के द्वारा” यह कहना भी ठीक नहीं है। आरोप को मिथ्याज्ञान होने के कारण वेद से असंभव होने से संभव होने पर भी सभी उसमें अविश्वास की आपत्ति आने से। अतः सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध करना ही उसका तात्पर्य है (सर्वज्ञ की अभाव के अनित्यत्व में कोई आपत्ति नहीं है, नित्य में दोष आगे कहा जाने से) ॥117॥

स्वव्यवनविरुद्धं यथा—न वाचो वस्तुविषया इत्यस्य^५ वस्तुविषयत्वस्य प्रतिज्ञानस्य^६ विशेषात्, अवस्तुविषयत्वे चानर्थकव्यवनतया निग्रहस्थानत्वा—पत्ते ॥118॥

^१ गुणवादत्येन, “विरुद्धे गुणवाद स्याद्वृक्षाद्यावशारित” इति वचनात्।

^२ स्तुतिरूपत्येन /कार्यस्तुति, यजेत् इत्यज्ञानापनरूपेऽजातशापको विधिरिति वचनात्।

^३ आदिमान सर्वज्ञाद्यर्थे यस्य स तथा । ५ कर्त्तितेन।

^४ आरोपणसंभवप्रकारेण।

^५ कारणात्।

^६ वस्तुनस्येति शब्दः।

स्ववद्यनविरुद्ध—“न वाचो वस्तुप्रिष्ठा” इस कथन के ही उत्तर वधन का गिरेधी होने से अवस्तुप्रिष्ठक होने पर वधन के व्यर्थ होने के कारण नियहरथाभल्ल (दंडविज्ञान) की अपीली होने से ॥१८॥

लोकविरुद्धं यथा—मिथ्यैव सर्वे प्रत्यया इति लोकस्य बहुलं जाग्रत्प्रत्ययेष्यमिथ्यात्वे एव विषयभावलक्षणेऽभिनिवेशात् । वासनादादर्शादृवायं न वास्तवादमिथ्यात्वादिति चेत् न, तदाढर्शस्याप्येवं तत्प्रतीतिसम्यक्ता — भिनिवेशोपनीतत्वेनावस्तुत्वापत्ती व्योमकुसुमादिवत्तस्तेषु तत्कल्पनानुपपत्तेस्ततो विषयभावादेव तत्प्रतीतिवदन्यत्राऽपि तदभिनिवेश इति कथं न सर्वप्रत्ययमिथ्यात्वं लोकविरुद्धं ॥१९॥

लोकविरुद्धं जाग्रत्प्रत्ययेष्यमिथ्यात्वेन लोकस्य बहुलं

लोकविरुद्ध जैसे—“मिथ्यैव सर्वे प्रत्ययाः” लोक की अधिकतर जाग्रत्प्रत्ययों में विषयभाव लक्षण सम्यक्त्व में ही अनुरक्ति होने से उक्त कथन लोकविरुद्ध है। यदि यह कहो कि वासना की दृढ़ता से ही वह प्रतीति सम्यक्त्व है, वास्तविक अमिथ्यात्व होने से नहीं तो उस वासना की दृढ़ता को भी इस प्रकार उसकी प्रतीति सम्यक्त्व में रुचि होने के कारण होने से आकाश कुसुम के समान अवस्तुत्व की आपलि आयेगी। अतः जाग्रत्प्रत्ययों में मिथ्या की कल्पना नहीं होने से ही उसकी प्रतीति के समान सम्यक्त्व में भी उसके होने से ही रुचि होती है। अतः सर्वप्रत्यय मिथ्यात्व लोक विरुद्ध कैसे नहीं है ॥१९॥

हेतुसाध्ययोरिव दृष्टान्तस्याप्याभासो निरूपयितव्यः अन्यथातद्विलक्षणतया तस्य ^१निरूपणानुपपत्तेरिति चेत् न, दृष्टान्तस्यैव तदभावेऽप्यनुमानस्य बहुलमुपलंभेन लं प्रत्यनंगत्वात्, तमस्युपगम्य तु ब्रूमः साध्यसाधनधर्मयोः संबंधो यत्र निर्जातिः स दृष्टान्तः स च द्वेधा, साध्यमर्येण वैधमर्येण च । तत्र शब्दस्य कृतकत्वादेरनित्यत्वे साध्यमर्येण घटः वैधमर्येणाकाशं तत्र ^२तयोरन्यथमुखेन व्यतिरेकद्वारेण च संबंधपरिज्ञानात् ॥२०॥

हेतु और साध्य के समान दृष्टान्त का आभास भी बताना चाहिये अन्यथा दृष्टान्ताभास से विलक्षण रूप से दृष्टान्त का निरूपण नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं है। दृष्टान्त के अभाव में भी अधिकांश अनुमान के होने से दृष्टान्त के अनुमान के प्रति व्यर्थ होने से अनुमान के प्रति कारण मानकर कहते हैं—साध्य और साधन के धर्म का संबंध जहाँ जात हो वह दृष्टान्त है। वह दो प्रकार का है—साध्यमर्ये से और वैधमर्ये से। साध्यमर्ये से—यथा शब्दोऽभित्यः कृतकत्वात् घटवत् यहाँ घट साध्यमर्ये से दृष्टान्त है। वैधमर्ये से—यथा आकाश घटे और आकाश में साध्य और साधन का संबंध अन्यथा और व्यतिरेक के द्वारा जाना जाने से ॥२०॥

^१ प्रकृत इति शेष ।

^२ तत्प्रतीतिसम्यक्ताभिनवेश ।

^३ प्रयोग ।

^४ घटाकाशयोः ।

^५ साध्यसाधनयोः ।

तदाभासः पुनः साध्यविकलादयः—तत्र नित्यः शब्दोऽमूर्त्तिवादित्यत्र कर्मवदिति साध्यविकलं निर्दर्शनमनित्यत्वात् कर्मणः परमाणुवदिति^१ साधनविकलं मूर्त्तिवात्परमाणोः घटवदित्युभ्यविकलं अनित्यत्वान्मूर्त्तित्वाच्य घटस्य रागादिमान् सुगतो वक्तृत्वादित्यत्र रथ्यपुरुषवदिति संदिग्धसाध्यं रथ्यापुरुषे साध्यस्य प्रत्यक्षेणानिश्चयात् वचनस्य च तत्र दृष्टस्य तदभावेऽपीच्छया समवात् अत एव भरणधर्माऽयं रागादित्यत्र असर्वज्ञोऽयं रागादित्यत्र च संदिग्धोभयं च रागादिवदर्शकत्वस्यापि तत्र निश्चेयतुमशक्यत्वात् रागादिमान्^२ वक्तृत्वादित्यत्र अनन्यं^३ ‘तत्र रागादेशसिद्धौ तदन्वयस्यासिद्धेः। अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवदित्यत्राप्रदर्शित्वात्त्वं यद्यात्कृतकं तदनित्यमित्यन्वयप्रदर्शनस्यात्राभावात् यदनित्यं तत्कृतकमिति विपरीतान्वयम्। एव नव साधम्यण दृष्टाताभासाः॥१२१॥

दृष्टात्ताभास साध्यविकल आदि है—“नित्यः शब्दोऽमूर्त्तिवात् कर्मकत्” यह साध्यविकल का उदाहरण है कर्म के अभित्य होने के कारण। परमाणुवत् यह साधन विकल है, परमाणु के मूर्त्त होने के कारण। घटवत् यह उभ्यविकल है, घड़े के मूर्त्त और अनित्य होने के कारण। “रागादिमान् सुगतो वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवत्” यह संदिग्ध साध्य है, रथ्यापुरुषमें रागादिमान् साध्य का प्रत्यक्ष से निश्चय नहीं होने से, दृष्ट वचन के रागादि के बिना भी इच्छा से संभय होने से। इसी से “भरणधर्माऽयं रागात्” तथा “असर्वज्ञोऽयं रागात् रथ्यापुरुषवत्” यहाँ संदिग्ध साधन तथा संदिग्धोभय भी है, रागादि के समान असर्वज्ञत्व का भी वहाँ निश्चय करने में अशक्य होने से। “रागादिमान् सुगतः वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवत्” यहाँ अनन्य (साध्य साधन से संबंध नहीं) है। रागादि की असिद्धि होने से वक्तृत्व के साथ उसके अन्य के असिद्ध होने से। “अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्” इसमें अप्रदर्शित अन्य है “यद्यत्कृतकं तदनित्यं” इस अन्य का यहाँ प्रदर्शन नहीं होने से, “यदनित्यं तत्कृतकम्” यह विपरीतान्वय है। इस प्रकार नव साधम्य से दृष्टात्ताभास है॥१२१॥

एवं वैधम्येणाऽपि, तद्यथा—नित्यः शब्दोऽमूर्त्तिवात्, यत्र नित्यं न तदमूर्त्त परमाणुवदिति साध्याव्यावृत्तं परमाणोनित्यत्वात्। कर्मवदिति साधनाव्यावृत्तं अमूर्त्तिवात्कर्मणः। आकाशवदित्युभ्याव्यावृत्तमुभ्योरपि तत्र भावात् सुगतः सर्वज्ञ अनुपदेशानिंगानन्वयव्यतिरेकप्रमाणोपपत्रतत्ववचनत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ तद्वचनो यथा वीथीपुरुष इति संदिग्धसाध्यव्यतिरेकं, तत्र सर्वज्ञत्वाभावस्य दुरव्योधत्वात्^४। अनित्यः शब्दः सत्यात् यत्र सथा न तत्सत् यथा गगनमिति संदिग्धसाधनव्यतिरेकं, गगनसत्यस्यादृश्यत्वेनानुपलभादभावा सिद्धे। संसारी हरि हरादिरविद्यादिमत्वात् यस्तु नैव नासौ तथा यथा बुद्ध इति संदिग्धोभयव्यतिरेकं,

^१ मीमांसकाभ्युपगतादृष्टवत्।

^२ सुगत इत्यनुवर्तते।

^३ न विद्यते साध्यसाधनस्तोरभ्यवां यत्र।

^४ रथ्यापुरुषवदित्यत्र।

^५ संदिग्ध साध्यव्यतिरेको यत्र।

^६ अदृश्यात्तमाभावस्य दुरव्योधत्वेन बोद्धो रथ्यमनभिमत्वादिति भावः।

बुद्धात्मसारित्वादित्यावृत्ते प्रमाणाभावेनानवधारणात् । नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यन्न
नित्यं न तदमूर्त्त यथा घट इत्यव्यतिरेकं घटे सतोऽपि साध्यव्यतिरेकस्य
हेतुभिर्वर्तनं प्रत्यप्रयोजकत्वाददन्यथा कर्मण्यषि तस्य तत्त्वोपपत्तेः । अनित्यः शब्दः
शब्दत्वात् वैधार्म्येणाकाशवदित्यप्रदर्शितव्यतिरेकं तत्रैव यत्र सञ्च तदनित्यमपि
यथा नभ इति व्यतिरेकं साध्यभिवृत्या साधन निवृत्तेरनुपदर्शनात् । त इमे नव
पूर्वे चाष्टादश दृष्टान्ताभासाः प्रतिपत्तव्या ॥122॥

इसी प्रकार वैधर्म्य से भी—जैसे “नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यन्न नित्यं न तदमूर्त्त
परमाणुदत्तं” यह दृष्टान्त साध्यात्थावृत्त है, परमाणु के नित्य होने से कर्मवत् यह
साधनाव्यावृत्त है कर्म के अमूर्त होने से । आकाशवत् यह उभयाव्यावृत्त है, नित्यत्व और
अमूर्तत्व दोनों के बहां होने से । “सुगतः सर्वज्ञः अनुपदेशलिङ्गानन्यव्यतिरेक
प्रमाणोपपत्तलङ्गलङ्गलत्वात् ॥५३॥” (हस्तवदेवा) लिङ्गलङ्गलत्वात् यह व्यतिरेक के बिना ही
प्रमाणसम्मत तत्त्व को कहने से ।) यस्तु न सर्वज्ञो नासी तद्वचनो यथा वीथीपुरुषः यह
संदिग्ध साध्य व्यतिरेक है, वीथीपुरुष में सर्वज्ञता के अभाव का ज्ञान कठिनता से होने के
कारण । “अनित्यः शब्दः सत्यात्” यन्न तथा न तत्सत् यथा गणनम्” यह संदिग्ध साधन
व्यतिरेक है, गणन के सत्त्व को अदृश्य होने के कारण अनुपर्लभ होने से अभाव की सिद्धि
भी होने से । सांसारी हरिहरादिरादिव्यादि गत्वात् यस्तु नैव नासी तथा यथा बुद्ध यह
संदिग्धोभय व्यतिरेक है, बुद्ध के संसारित्व के अभाव को सिद्ध करने वाले किसी प्रमाण के
न होने से निश्चित नहीं होने से । नित्यः शब्दोऽमूर्तत्वात् यन्न नित्यं न तदमूर्तयं तथा घट यह
अव्यतिरेक है, घड़े में साध्य के विपरीत अनित्यत्व के होने पर भी अमूर्तत्वात् हेतु साध्य के
प्रति अप्रयोजक होने से अन्यथा कर्म में भी अमूर्तत्व हेतु को साध्य के प्रति प्रयोजकत्व होने
का प्रसंग होने से । “अनित्यः शब्दः” शब्दत्वात् यैधर्म्य से आकाश के समान, यह अप्रदर्शित
व्यतिरेक है । यन्न सन्न तदनित्यमपि यथा नभ यह व्यतिरेक है, साध्य के बिना साधन के
अभाव का प्रदर्शन नहीं होने से । ये नव तथा पहले बताये गये नव इस प्रकार अतारह
दृष्टान्ताभास जानना चाहिये ॥122॥

कुरु पुनर्दृष्टात् तदाभासयोः साधनदूषणभावस्याभावेऽभ्युपगमेनापि निरूपण
मिति चेत् न तत्त्ववाद एव तयोस्तदभावात् । प्रतिवादादौ तु स विद्यत एव
तद्वादस्यापि चिरतनैरभ्यनुज्ञानादित्युपपत्तमेव तनिरूपणं फलवत्वादिति ॥123॥

लाधन दूषणभाव के अभाव में अनुमान के स्वीकार करने पर भी दृष्टान्त और
दृष्टान्ताभास का निरूपण क्यों किया, यह कहना ठीक नहीं है । वीतरण कथा में ही दृष्टान्त
आर दृष्टान्ताभास के साधन दूषण प्रयोग का अभाव होने से, प्रतिवाद आदि विजिगीषुकथा
में तो साधन दूषण प्रयोग होता ही है और दह वाद प्राचीन विद्वानों के ज्ञान स्वीकृत है
अत फलप्रद होने से उनका निरूपण ठीक ही है ॥123॥

(पद्म)

पद्म

स्मृत्यादेरनु^१ माधियोऽपि च मया हेत्वा^२ दिभि सेतरै
नीते निर्णयपद्धतिं स्फुटतया देवस्य दृष्ट्वा मतम्
श्रेयो वा कुरुतान्मनोभलहरं स्फारादरं श्राविणी^३ ।
मिथ्यावादतमो व्यपोद्धर्व निपुणं व्यावर्णितो निर्णयः ।

मैंने स्मृति प्रत्यभिज्ञान लक्ष आदि उपचारानुभान तथा अनुभान को भी देव के मत को देखकर हेतु राध्य दृष्टान्त तथा हेत्याभास राध्याभास और दृष्टान्ताभास के द्वारा निश्चय मार्ग को पहुंचा कर मिथ्यावाद रूपी अन्यकार को दूर करके बड़ी निपुणता से अनुभान निर्णय का घण्टन किया है, यह आदरपूर्वक सुभन्ने धाले आप श्रोताओं के मन की मालिनता को दूर करने लाप कल्पाण को करे।

इति श्रीमद्भाद्रिराजसूरि—प्रणीते प्रमाणनिर्णयनाभिन्न न्यायग्रन्थे अनुभाननिर्णयः ॥

इस प्रकार श्रीमद्भाद्रिराज सूरि द्वारा प्रणीत प्रमाण निर्णय भामक न्यायग्रन्थ में अनुभान निर्णय का घण्टन किया गया।

आगमनिर्णयः ॥

आगम निर्णय

अथेदानीमागमः। स चाप्तोपदेशः, तस्य च प्राभाण्यं ततस्तद्विषयप्रतिष्ठते—
रीपचारिकं, मुख्यतस्तस्या एव लद्वावात्^४ पुनः शब्दादर्थप्रतिपरिस्तस्याथभावेऽपि
भावादिति चेत् कथमिदानीं ज्ञानादपि कुतश्चित्तत्पतिपत्तिस्तदभावे तस्याऽपि
भावाच्यद्वयादिवत्। पुरुषेच्छानुविधायित्वात्रार्थवत्त्वं शब्दस्येत्यपि न युक्तं
ज्ञानेऽपि समानत्वात्। अस्ति हि तस्यापि तदा विधायित्वं ब्रह्मप्रधानादिषु
तद्वादिमतानुविधायितयैव तस्य प्रवृत्ते, न 'वस्तुतयाभावादन्यथा' स्वयं
तत्प्रतिक्षेपस्यानुपत्तिप्रसंगात्।

कारणदोषोप^५ नीतमिथ्यावभासनस्तभावस्यैव

^१ उपचारानुभानस्य ।

^२ आदिराष्ट्रेभाऽपि राध्यदृष्टात् याहौ ।

^३ हेत्याभासादिभिः ।

^४ निश्चयमार्गः ।

^५ शीघ्रं श्रेत्रणां ।

^६ दूरीकृत्य ।

^७ वस्तुयथार्थत्वात् ।

^८ सीगतैरिति शेषः ।

^९ जग्नित ।

४ अगुल्यं हस्तियूधशतमात्रत इत्यादिवदिति शेषः ।

तयाऽपि तत्र तस्य प्रवृत्तिनापरस्य^१, तस्य वस्तुभावानुरोधितयैव, प्रदृश्टेरिति चेत्, अनुकूलभिदभस्माकमेवं शब्दस्याऽपि वस्तुभावारोधिन^२ शक्यव्यवस्थापनात्^३ सामान्यमेव शब्दस्य विषयस्तत्रैव संकेतस्य संभवात् तस्य चावस्तुत्वात्तद्वाचिनः कथमर्थत्वमिति चेत् न, तस्य नित्यव्यापिरूपस्याभावेऽपि विषयतत्पत्यक्षयोरिव^४ सदृशपरिणामरूपस्य तत्त्वत एवभावादन्यथा प्रत्यक्षेऽपि तस्यात्तत्विकेन ततो विषयव्यवस्थापनस्याभावप्रसंगात्। कथं वा तस्यावस्तुत्वे क्वचित्तत्त्विकेन एकत्वसमारोपो^५ यतस्तद्व्यवच्छेत्तर्थान्पृष्ठिकल्पनां^६ लुक्तोऽसात्त्वं गणेव कुतश्चिदुपल्लवात्र^७ तत इति चेत् न, सदृशापरापरोत्पत्ति – विप्रलभान्नावधारय – तीत्यस्य विरोधात्। तत्र सदृश- परिणामस्यात्तत्विकत्वे, अनुभवप्रसिद्धत्वाच्च | अन्यथा विसदृशपरिणामस्यायेव तत्त्विकेन स्वलक्षणस्यापि काल्पनिकत्वोपनिपातात्। चेष्टमेवेदम् भावा^८ येन निरूप्यते लदूपं नास्ति तत्त्वत् इति वचनादिति चेत् न, कुतः पुनर्निरूप्यमाणत्वाविशेषे भावरूपस्थेवतत्रैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वम्? अपरिस्खलित निरूपणत्वाच्चेत्, आगतं तर्हि सदृशपरिणामस्यापि तत्त्वं तदविशेषदित्युपपत्तमेव तद्विषयतया शब्दस्य वस्तुविषयत्वं। तत्वं न तन्मात्रत्वादतिप्रसंगात्। अपि आप्तोपज्ञत्वेन गुणवत्त्वादा- प्तश्च वक्तुर्वच्यवस्तुयाथात्म्यवेदित्ये सत्यविप्रलभकत्वम् ॥124 ॥

अब आगम का वर्णन करते हैं यह आप्तोपदेश है उसकी प्रमाणता उससे उसके विषय की प्रतिपत्ति होने से औपचारिक है, मुख्यतः विषय की प्रतिपत्ति की ही प्रमाणता है। शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति कैसे होती है? अर्थ के अभाव में भी शब्द के होने से, यदि यह कहते हों तो यह बताओ कि किसी ज्ञान से भी अर्थ की प्रतिपत्ति कैसे होती है अर्थ के अभाव में ज्ञान के भी होने से अन्द्रद्वय आदि के समान गुरुरूप की इच्छा के अनुसार अर्थ होने से शब्द को अर्थपना नहीं है, यह कहना भी ठीक नहीं है ज्ञान में भी यह समान होने से ज्ञान की भी ब्रह्मप्रधान आदि के विषय में उन-उन वादियों के भतानुसार ही उसकी प्रदृश्टि होने से, वस्तु की यथार्थता से नहीं, अन्यथा स्थूल द्वौद्धों के द्वारा उसके निरुक्तण की अनुपत्ति होने का प्रसंग होने से। कारणदोष से उत्पन्न मिथ्यावभासन स्वभावं वाले विषयतत्पत्यक्षयोरुत्तिकः सदृशपरिणामोऽरित तथा।

^१ सम्यग्ज्ञानस्य।

^२ सम्यग्ज्ञानस्य।

^३ सौगतो धर्मति।

^४ “अर्थं पद्यत्येनां भवि मुक्ताधेभपतां तत्प्राप्तमेषाधिगते प्रभाण मेयलप्तेति रथयं सौगतोऽसात्त्वप्रकारिण विषयतत्पत्यक्षयोरुत्तिकः सदृशपरिणामोऽरित तथा।

^५ स भा नदित्याशंकायाम्ह।

^६ अर्थं क्षणिकं सत्यादिति।

^७ विसंवादात्। ^८ अनुभवप्रसिद्धत्वाविद्वेषण तात्त्विकत्वाप्त्वा।

^९ रवेनासाधरणस्यरूपेण लघुत्तम इति स्वलक्षण न तथा सति विसदृशपरिणामाभावे तस्य तथा लक्षणितुमशक्यत्वात्काल्पनिकत्वोत्तिपातः।

^{१०} तत्प्राप्तवादी प्राह।

हमारे अनुकूल ही है, इस प्रकार दरस्तुभाय के अनुसार सम्यकज्ञान रूपी शब्द को भी व्यवस्था की जा सकते हों वौद्ध कहते हैं—शब्द का विषय समान्य ही है, उसी में संकेत के सम्बन्ध होने से और उसके अथस्तु होने से उसको कहने घरते को अर्थवत्त्व कैसे हो सकता है? आधारी कहते हैं ऐसा नहीं है। विषय के नित्य और व्यापी रूप का अभाव होने पर विषय और उनके प्रत्यक्ष के समान सदृशपरिणाम रूप के वास्तव में होने से उससे विषय के व्यवस्थापन के अभाव का प्रसंग हो जायगा। फिर विषय के अथस्तु होने पर कहीं उसके आधार से “एकत्व” को समझने क्षमा होने वाली विषय करने के लिये “सर्व क्षणिक सत्यात्” इस अनुभाव की कल्पना की गयी है। यह भी किसी अन्तर्गत विसंकाद से उससे नहीं, यह कहना भी ठीक नहीं है “सदृशपरापरोत्पत्तिविप्रलंभान्नावधारयति” इसका विरोध होने से अतः सदृशपरिणाम को अतात्त्विकता नहीं है। अनुभव से प्रसिद्ध होने से, अन्यथा विसदृश परिणाम को भी इसी प्रकार अतात्त्विकता होगी और उसका कारण होने से स्वलक्षणत्व को भी कात्यनिकत्व का प्रशंग आयेगा।

आच्योपज्जववादी कहते हैं—“यह ठीक ही है ‘भावा येन निरूप्यते लदूपं नास्ति तत्त्वत्’” ऐसा वचन होने से आधारी कहते हैं, ऐसा नहीं है। फिर निरूप्यमाणत्व को समान होने पर भावरूप के समान अभावरूप को भी तात्त्विकता कैसे होगी। अपरिस्खलित (स्तूल) निरूप्यमाणत्व के कारण कहो तो फिर सदृशपरिणाम को भी तात्त्विकत्व हो जायेगा, दोनों में समानता होने से। अतः सदृश परिणाम को विषय करने के कारण शब्द को वरस्तु विषयत्व सिद्ध हो जाता है। केवल वस्तु को विषय करने के कारण ही शब्द प्रमाण नहीं है, अतिप्रसंग होने से। अपितु आख्य के द्वारा कहे जाने से गुणयुक्त कथन तथा चक्षा के वाच्य वस्तु का गण्यार्थ ज्ञान होने पर अविसंकाद युक्तगमना है। ॥124॥

आपाश्च द्वेधा, विकलाविकलज्ञानविकल्पात् । विकलज्ञानस्याप्तत्वे
तद्वचनस्याविसंवादकत्याबहुलं व्यवहाराधिरूढत्वात् ॥125॥

आप्त दो प्रकार के हैं—विकल ज्ञान और अविकल ज्ञान के भेद से। विकल ज्ञान के आप्त होने में उनके वचन को अविसंवादकता होने के कारण प्रायः व्यवहार में रुक्ष होगा है। ॥125॥

अविकलज्ञानश्च द्वेधा—परोक्षप्रत्यक्षज्ञानविकल्पात् । परोक्षज्ञानो गणधर—
देवादिस्तस्य प्रवचनोपनीतसकलवस्तुविषयाविशदज्ञानतया परोक्षज्ञानत्यात् ।
प्रत्यक्षज्ञानस्तु तीर्थकरः परमदेवस्तदपरोऽपि केवली तस्य निरवशेषनिर्धूत—
कषायदोषघातिमलोपलेपतया परमवैराग्यातिशयोपपन्नस्य सकलद्रव्यपर्याय—
परिस्फुटावद्योतकारिणः प्रत्यक्षज्ञानस्य भावात् । प्रसाधितश्चायै¹ । ततो युक्त
तदुक्तत्वात्प्रवचनस्य गुणवत्त्वं अन्यथा² तद्वचनस्यासंभवात् । संभव एव
वीतरागस्यापि सरागवच्छेष्टासंभवादिति चेत् न, प्रयोजनाभावात् । कीड़नस्य च
रागातिरेकमलीमरमानसधर्मतया परमवीतरागे भगवत्यनुपपत्तेः । वैराग्यातिशयश्च

¹ शब्दज्ञः ।

² अनुभावतः ।

³ आधिकर्यः ।

रागादिः क्वचिदत्यन्तहानिमान्^१ प्रकृष्टमाणहानिकत्वात् हेम्नि
कालिकादियदित्यनुमानतोऽस्यवसायात् ॥1126 ॥

अधिकल ज्ञान भी दो प्रकार का है—परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान के विकल्प से परोक्ष
उन बाले गणधर देख हैं, प्रवचन से प्राप्त संपूर्ण वरतु विषय में अस्पष्ट ज्ञान के कारण
जोक्ष ज्ञान होने से। प्रत्यक्ष ज्ञानी तो परभद्रेय लीर्थकर हैं, दूसरे केवली भी हैं, उनके संपूर्ण
विषय, रागद्वय आदि दोष तथा धातिया कर्म रूपी मत्त के उपलेप को नष्ट कर देने से
सम्बैराग्य रूपी अतिशय के कारण उत्पन्न सकल द्रव्य और उसकी संपूर्ण पर्याय को स्पष्ट
कांशित करने बाले प्रत्यक्ष ज्ञान के होने से। सर्वज्ञ की सिद्धि पहले की जा चुकी है। अतः
एका कहा हुआ होने से प्रवचन को गुणवत्ता गुक्त ही है, उनके अगुणकारी वचन के
उत्तमकाल होने वै। यदि इत्योर्व्वक्त्वादिकृतीत्याग्य के भी समान येष्टा संभव होने से
उनके वचन अगुणयुक्त हो सकते हैं तो यह कहना ठीक नहीं है उनके ऐसे वचन कहने का
ही योजन नहीं होने से। कीड़ा के लिये भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कीड़ा तो
गातिरेक से भलीन मन थालों का धर्म है, वह परम योत्तरागी भगवान के भी ही सकती।
र्थकर भगवान में वैशाख्यातिशय है “रागादिकृ चिदत्यन्तहानिमान् प्रकृष्टमाणहानिकत्वात्
हेमि कालिकादियत्” अर्थात् जीसे सोने में किछुकालिमादि दोष होते हैं किंतु उपाने से वै
त्त्वकुल अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार रागादि दोष का भी कहीं अत्यन्त अभाव ही जाला
प्रकृष्टमाण हमिनिवाला होने से इस अनुमान से निश्चय होने से ॥1126 ॥

व्यभिचारी हेतु सकलशास्त्रविदः प्रभृति प्रकृष्टमाणहानिकत्वेऽपि
तानस्य क्वचिदत्यन्तहान्यभावादिति चेत् न तस्यापि भस्मादौ निरवशेषस्यैव
हाणस्य प्रतिपत्ते । आत्मन्येव रागादिकत्कुतो न तस्य तदिति चेत् न,
स्यवात्मत्वेन तत्रैव तथा तदभावस्य विरोधात्। रागादेस्तु तदनन्यत्वेऽपि
त्कस्तत्राभावः सत्यपि तस्मिन् बोधस्यमावस्य तस्यापरिक्षयात्। तत्स्यभावश्चात्मा
तथैवाहं जानामि” इति प्रत्यक्षेण प्रतिवेदनात्। अनुमानस्य च तद्विलक्षणे तस्मिन्
त्यक्षविरुद्धपक्षतया नुपपत्ते । तत्र परमवौतरागतया निर्व्यभिचारहेतुबलावधारिते
गवति वचनप्रलंभः संभवति ॥1127 ॥

शंकाकार कहते हैं—“प्रकृष्टमाण हानिकत्वात्” हेतु व्यभिचारी है, संपूर्ण शास्त्र के
आता आदि के अनुसार प्रकृष्टमाणहानिकत्व होने पर भी ज्ञान की कहीं भी (एकेन्द्रियादि में
ही) आत्यन्तिक हानि नहीं होने से। ऐसा कहना ठीक नहीं है। भस्मादि में ज्ञान की
आत्यन्तिक हानि क्यों नहीं होती, यह कहना ठीक नहीं है, ज्ञान के ही आत्मा होने के
कारण, उसमें ही ज्ञान के अत्यन्ताभाव का विरोध होने से। रागादि को उससे अभिन्न होने पर
ही आत्मा में उसका अभाव होना गुक्त है आत्मा में उसका अभाव होने पर भी बोध स्वभाव
आत्मा का क्षय नहीं होने से। आत्मा बोधस्यभाव वाला है “तथैवाहं जानामि” यह प्रत्यक्ष से

^१ निरवशेषेण ।

एकेन्द्रियादी ।

तत्त्वये तृतीया विभक्तिः ।

तत्त्वये तृतीया ।

प्रतिवेदन होने से ज्ञान स्वभाव से विलक्षण आत्मा के विषय में प्रत्यक्ष विरुद्ध पक्ष होने से अनुमान की भी उपपत्ति नहीं हो सकती। अतः परमदीतरागता के रूप में अव्यभिद्यारी हेतु से निर्धारित भगवान् में दोष युक्त वचन नहीं हो सकता। ॥127॥

कथमेव^१ तादृशस्य वचनमपि स्वार्थाभावादिति^२ चेत् न, परार्थतयैव तद्वाचात्। तथापि तत्र परानुग्रहमिसंधे^३स्तत्र तदभावात्, अपि तु सुकृतविशेषो— पनिपातात्, स्वभावविशेषादेव, भानुभौतिनविकासवत्, उदन्वदभौविवर्द्धनवचनं तुहिनद्युते^४। ॥128॥

बीतरागी भगवान् का अपना कोई स्वार्थ न होने के कारण निर्दोष वचन भी क्यों है? यह कहना ठीक नहीं है। परार्थतया ती उनके वचन से परार्थतया भी उनके वचन नहीं हैं। पर का अनुग्रह आदि मोहन का भी उनमें अभाव हो जाने से अपितु पुण्यविशेष से प्राप्त स्वभाव विशेष से ही उनके निर्दोष वचन होते हैं। सूर्य से कमल के विकास के समान तथा चन्द्रमा से समुद्र के जल के विवर्द्धन के समान। ॥128॥

कथं तर्हि प्रत्यर्थनियतत्वं तद्वचनस्य सकलदर्शनोपजनिते तत्र सकलार्थताया एवोपपत्तेनियतविषयाभिसंधेश्च नयरूपतया तत्रासंभवादिति चेत् न, प्रश्नविषय^५ एव प्रत्यर्थनियतानेकस्वभावाधिकरणादपि तद्वर्णनात्तदुपपत्तेः। प्रश्नस्य च सकलविषयस्य युगपत्त्रश्चनकारिण्यसंभवात् संभवे च भवत्येव तद्वचनात् कुतश्चिदप्यतरंगमलविश्लेषविजृमितप्रज्ञापाटवस्य गणधरदेवादेः सकलविषयप्रतिपत्तेः। अद्यापि कस्यविद्वोद्यातिशयविशेषवतः सूत्रादेव तद्विर्वार्तिकादि—विवरणीय^६ तदर्थविस्तारपरिज्ञानस्योपलंभात्। ॥129॥

शंकाकार कहते हैं कि फिर उनका वचन प्रत्यर्थ नियत कैसे होता है सकल दर्शन होने पर वहाँ सकलार्थता की ही उत्पत्ति होने से, नयरूप से नियत विषय का प्रतिपादन उससे नहीं होने से, यह कहना ठीक नहीं है, अनेक स्वभाव वाले उनके दर्शन से भी प्रश्नविषय के अनुसार प्रत्यर्थनियत की उपपत्ति होने से सकल विषयका एक साथ प्रश्न करनेवाले में असंभव होने से, संभव होने पर उनके किसी वचन से अन्तरंग मलविश्लेष से उत्पन्न प्रज्ञापाटव गणधर देवादि के संपूर्ण विषयों का ज्ञान होता ही है। आज भी किसी विशेष ज्ञानातिशय थाले के सूत्र से ही उसकी वृत्ति वार्तिक आदि व्याख्या करने योग्य अर्थ का विस्तृत ज्ञान देखा जाता है। ॥129॥

कः पुनः प्रवचनस्याप्तोपज्ञत्वेन गुणो यतः प्रामाण्यमिति चेत् प्रमाणात्तराविशेषलक्षणोऽविसंबाद एवं न ह्यसौ तत्र शब्दस्यैव सामर्थ्येन

^१ सतीति शेषः।

^२ शब्दस्य प्रयोजनात्मकता।

^३ मोहनत्।

^४ चंद्रात्।

^५ अर्थं इति शेषः।

^६ व्याकियमाण।

^७ अदायस्वरूपः।

स्वतस्तास्योपाध्यायसेवावैकल्प्यप्रसंगेनाप्रत्यायकत्वात् । नाऽपि पुरुषमात्रस्य वचन—
भाबेऽपि तत्प्रसंगात् । अस्मि प्रवचने तत्प्रसंगेर्थस्य कथंचित्प्रत्यक्षेणापरस्या—
नुमानेनात्यंतपरोक्षस्य च तदेकदेशैरविरुद्धतयैव^१ प्रतिपत्तेः । के पुनस्तेऽर्था ये
तथा ते प्रतिपत्तव्या इति चेत् । भावेष्वनेकांतः परिणामो मार्गस्तद्विषयश्च ॥ 130 ॥

आप्त के द्वारा कहा जाने से प्रवचन का क्या गुण है? जिससे उसकी प्रभाषता है? यह कहते हों तो किसी अभ्य प्रमाण से विरोध न होने वाला अविसंबाध ही उसकी विशेषता है। इस प्रकार आत्मवचन में केवल शब्द के सामर्थ्य से ही प्रमाणता नहीं है, उपाध्याय की सेवा को विफलता का प्रसंग होने से स्वयं शब्द के अग्निश्चयात्मक होने से प्रत्येक पुरुष मात्र के वचन मात्र में भी प्रमाणता नहीं है, उक्त प्रसंग से ही अतः प्रवचन में उनके अर्थ की कथंचित् प्रत्यक्ष से कहीं अनुभान से और अत्यंत घरोक्ष अर्थ की कथंचित् अविरुद्धतया प्रतिपत्ति होने से प्रमाणता है।

वे अर्थ क्या है? जिन्हें उस प्रकार जानना चाहिये—पदार्थों में अनेकान्त, परिणाम, मार्ग और उनके विषय हैं ॥ 130 ॥

तत्रानेकांतो नाम तेषां युगपदनेकरूपत्वं । परिणामश्च क्रमेणास्ति हि
तयोर्गुणपर्यवद्द्रव्यमित्यादेरागमादिव प्रत्यक्षादेरपि प्रतिपत्तिश्चेतने स्वपरवेदन
विकल्पाविकल्पविभ्रमाविभ्रमादिभेः सृद्धावेदरथेतने परस्मामान्यविशेषयुगुण
युग्यादिभिर्स्तदेकांतभेदाभेदयोरप्रतिपत्त्या प्रतिक्षेपेण युगपदनेकरूपसाध्यक्षतः
शक्तिभेदैश्च कार्यभेदप्रतिपत्तिहेतुकादनुमानतोऽपि निर्णयपथप्राप्यणात् ॥ 131 ॥

अनेकान्त तो पदार्थ का एकसाथ अनेकरूपत्व है, परिणाम भी कम से हैं, गुण और पर्यायों में “गुणपर्यवद् द्रव्य” इत्यादि आगम के समान प्रत्यक्षादि से भी प्रतिपत्ति होती है—चेतन में स्व पर वेदन विकल्प अविकल्प, विभ्रम अविभ्रम आदि स्वभाव से तथा अचेतन में सामान्य विशेष, गुण गुणी आदि के द्वारा एकान्तरूप से भेद और अभेद की प्रतिपत्ति नहीं होने से उसका निराकरण करने से, युगपल अनेकरूपता की प्रत्यक्ष रूप से, शक्तिभेद से तथा कार्यभेद की प्रतिपत्ति करने वाले अनुभान से भी निर्णय होने से ॥ 131 ॥

एवं परिणामस्य, तस्यापि स्मरणप्रत्यमिज्ञानाद्यनुपातिनिर्वित्स्वभावस्या—
चित्स्वभावस्यापि कुङ्डलप्रसारणाद्यनुषंगिजंगाद्यात्मनः स्वानुभावादेद्वियादप्यध्यक्षतोऽ—
न्वीक्षणात् । एवमनुमानतोऽपि । लच्छेद—क्रमादप्यनेकांतात्मा भावो युगपदप्यन्यथा
रादनुपपत्तेः । नित्यानित्यात्मकस्य^२ तत्र संशयादेद्विभावे ‘सकृप्नानैकरूपत्वमपि

^१ अनिश्चयकत्वात् ।

^२ कस्य तदर्थरया प्रत्यक्षेणाविरुद्धतया ततः प्रतिपत्तिसिति संबंध एवमनुमानादावपि थोज्य ।

^३ यूर्वापराविरुद्धतया तथैवोक्तं श्रीमदाशाधरदेवै “दृष्टोऽश्वैऽव्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः पूर्वापराविरुद्धेन
प्रतिपत्ति च प्रमाणते” ।

^४ सहभाविन्ने गुणाः, क्रममाविनः पर्यायाः ।

^५ “सर्वथा सविकल्पत्वे तस्य स्याच्छृद्धरूपता । सर्वथा निर्विकल्पत्वे स्वार्थव्यवसिति कुत्” ।

^६ इवभावस्यति शीघ्रः ।

न स्थात् तदविशेषात् माभूदिति चेत् न तर्हि संशयादिरपि तद्विकल्पस्यादि
नानापरामर्शरूपत्वेनानेकांताल्मकर्त्त्वासंभवेऽनुपपत्ते । भवतु ^३सदृदनेकांतः कर्त्त्वा
तावता कर्मेणाधि^१विरोधाभावा^२दिति चेत् न निरन्वयविनाशे तस्य
चिरातिकाँ^३तदत्कार्यतत्कालमप्राप्तस्यानुपयोगेनावस्तुत्वापत्ते; सान्वयविनाशे तु तस्य
एव परापरसमयेष्वपि तस्य स्वभाव इति तदात्मनः कर्मानेकांतस्य तत्त्वे
साधनमविनाभावस्य तत्रैवाध्यवसायात् ॥132 ॥

इसी प्रकार परिणाम का –रमरण प्रत्यभिज्ञान आदि से होने वाले उसके चेतना
स्वभाव तथा अचेतन स्वभाव का भी कुडल ब्रह्मारण आदि से युक्त रार्पादि को अपने अनुमान से तथा इन्द्रियों से भी प्रत्यक्ष रूप से जाना जाने से इसी प्रकार अनुमान से भी अनुमान यह है—“कर्मादप्यन्नेकान्ताल्म युगपदप्यन्यथा लदनुपपत्ते” कर्म से भी पदार्थ अनेकान्ताल्म है, अन्यथा युगपत् भी नहीं होने से। संशयादि दोष के कारण पदार्थ के नित्य और अनित्य स्वभाव याता नहीं होने से एक साथ नाना अव्यवहार एकरूपत्व भी नहीं होगा, समानता होने से। न हो, यदि ऐसा कहते हो तो फिर संशय आदि भी नहीं होंगे, ज्ञान के विकल्प वा नाना परामर्श रूप से अनेकान्ताल्मकर्त्त्व के नहीं होने पर नहीं होने से विपक्षी कहाँ हैं—युगपत् अनेकान्त मान लो कर्म से भी कैसे है? कर्मानेकान्त के अभाव में युगपत् अनेकान्त के सद्वशाव का कोई विरोध नहीं होने से। आवार्य कहते हैं—यह कहना ठीक नहीं है। चेतनादि का निरन्वय विनाश मानने पर चिर अतीत के समान कार्य के समय तत्काल होने पर उपयोग नहीं होने से अवस्तुत्व का प्रसंग आने से। सान्वयविनाश मानने पर तो प्रहृ और अपर समय में भी उसका वही स्वभाव होगा। अतः युगपत् अनेकान्ताल्मकर्त्त्व कर्मानेकान्त का साधन है, अविनाभाव का वही निश्चय होने से ॥132 ॥

कर्त्तव्य मार्ग इति चेत् निःश्वेयसप्राप्त्युपाय एव। स च त्रिलोप
“सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग” इत्यागमात्^४। अनुमानाच्य। तत्रेद—
त्रिलोपोऽपवर्गमार्गः अपवर्गमार्गस्वान्यथानुपपत्ते । न चाऽत्र हेतोराश्रयासिद्धि-
रपवर्गवादिनां सर्वेषामपि तस्य प्रसिद्धत्वात् ॥133 ॥

मार्ग क्या है? यदि यह कहते हो तो मोक्ष की प्राप्ति का उपाय ही मार्ग है। वाक् त्रिलोप है—“सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः” इस प्रकार क्या आगम होने से अनुमान भी वह यह है “त्रिलोपोऽपवर्गः अपवर्गमार्गस्वान्यथा नुपपत्ते” हेतु आश्रयासिद्धि भी नहीं है—सभी मोक्षवादियों के यहाँ मोक्ष के प्रसिद्ध होने से ॥133 ॥

^१ युगपदिति भावः ।

^२ ज्ञानस्य ।

^३ युगपत् ।

^४ अन्याभावे धूमसदाविरोधवत्, कर्मानेकांताभावे युगपदनेकान्तसदावर्त्य विरोधाभावत् ।

^५ चेतनादि ।

^६ अतीतवत् ।

^७ आगमस्य प्रमाणान्तराविरोधलक्षणं दर्शयति ।

**नाप्यन्यथोपपतिः ज्ञानादेः प्रत्येकं तन्मार्गत्वाभावात् । तथाहि—न
ज्ञानदेवापवर्गः प्रत्युत्पत्तलत्वज्ञानस्याप्य^१ नपवृक्षस्यावस्थितेरन्यथोपदेष्टुरभावेनापव—
गार्थिणां तत्त्वज्ञानस्याभावप्रसंगात् ॥१३४॥**

मोक्षसार्ग की अन्यथा उपपत्तित्व भी नहीं है—ज्ञानादि को पृथक् पृथक् मोक्षमार्गत्व नहीं होने से तथाहि—ज्ञानमात्र से मोक्ष नहीं होता, तत्त्वज्ञानी के भी अमुक्त होने से अन्यथा उपदेष्टा का अभाव होने से मोक्षार्थियों को तत्त्वज्ञान के अभाव का प्रसंग होने रहे ॥१३४॥

**नापि दर्शनादेवायमभिरुचिरुपात् तद्विषयाधरिज्ञाने तस्यैवासंभवात् । नापि
तत्स्तत्परिज्ञानसहायादनुष्ठानकल्पनावैफल्योपनिपातात् ॥१३५॥**

केवल अद्वान रूपी दर्शन से भी मोक्ष नहीं होता मोक्ष के विषय का ज्ञान नहीं होने से अद्वान के ही असंभव होने से। अद्वान और ज्ञान दोनों से भी मोक्ष नहीं होता, अनुष्ठान (चारित्र) की कल्पना के किफल होने का प्रसंग होने से ॥१३५॥

**नापि अनुष्ठानमात्रात् तद्विषयवेदनाऽऽदरयोरभावे तस्यैवाभावात् तितो
युक्तं त्रैरुप्यमेव तन्मार्गस्य ॥१३६॥**

केवल अनुष्ठान (क्रियामात्र) से भी मोक्ष नहीं होता, विषय का ज्ञान और अद्वान के अभाव में किया के ही नहीं होने से अतः मोक्ष का मार्ग त्रैरुप्य ही है ॥१३६॥

कथं पुनर्बधेन तस्यादिरोधे तत्परिक्षयस्तस्मादपवर्ग इति चेत् न,
साक्षादविरोधेऽपि तत्त्विदानविरोधितयाऽपि तत्स्तदुत्पत्ते । तथा हि—यद्यत्रिदान—
विरोधि तत्स्तत्परिक्षय, यथा व्याधिनिदानवातादिरोधिनो भेषज्यात् व्याधे,
बंधनिदानविरोधी चोक्तो मार्ग इति । बंधस्य च निदानं रागादिरात्रवस्ताद्विरोधित्वं
च मार्गस्य, तस्य भेषजस्येवातिशयतारतम्ये रागादेवातादेविवापकर्षतारतम्यस्य
प्रतिपत्ते ॥१३७॥

बंध से मार्ग का विरोध नहीं होने पर भी अपवर्ग को बंध का साधन व्यों कहा है? यह कहना ठीक नहीं है। साक्षात् विरोध नहीं होने पर भी उसके कारण का विरोधी होने से भी उक्तमार्ग से बंध का क्षय होने से कहा भी है—जो जिसके कारण का विरोधी है, उससे उसका क्षय होता है, जैसे कि रोग के कारण धातादि के विरोधी औषधि से व्याधि का क्षय होता है। बंध के कारण का विरोधी उक्त मार्ग है। बंध का कारण रागादि का आचर है, उक्त मार्ग उसका विरोधी है। जैसे औषधि के सेवन से धातादि का अपकर्षतारतम्य देखा जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्ग के अतिशय तारतम्य से रागादि का अपकर्ष तारतम्य देखा जाता है ॥१३७॥

^१ अमुक्तस्य ।

^२ आदिशब्दने लोमपित्तयोर्गहणं ।

भवतु नाम तद्व्यंतातिशयदशायां तत्रिदानपरिक्षयाबंधस्यानागतस्या—
नुत्पत्ते^१रभावः प्रागवस्थस्य तु कथमिति चेत् न, लस्याप्याश्रवरूपस्नेह—
वशावस्थायिनस्तत्स्नेहापक्लमादेवभावात्। तत्वाभिनिवेशरूपत्वान्मार्गस्य ततो
मिथ्याभिनिवेशस्यैवापवर्त्तनं कर्थं रागादेरिति चेत् न, लस्यापि तद्विशेषत्वात्। कुतुः
पुनस्तस्य अधिनिवेशनविनिवेशसंबंधहेतुस्तत्वान्मदिराद्यर्थिनस्तद्वागादिवत् |यथावरिथतस्वपरज्ञान
— स्वमावस्थात्मनः कुतो रागादिरपि दोषो यतस्तस्य तत्संबंधनिवेशनविनिवेशमिति चेत्
न तस्यापि तादृशाऽप्याच्यादेव सत्संबंधतो भावात्। तथाहि—तादृशस्थात्मनो
रागादिस्तस्तसंबंधपूर्वकस्तत्वान्मदिरापीतस्य रागादिवत् सोऽपि तत्संबंधस्ततः
प्राच्याद्वागादेव इन वैवमनवस्थितिर्दोषो हेतुफलरूपतया रागादितत्संबंधप्रबंधस्या—
नादित्वात् ॥ 138 ॥

उक्त मार्ग के अत्यंत लारम्भ की दशा में बंध के कारणों का नाश हो जाने से
अनागत बंध की उत्पत्ति नहीं होने से अनागत बंध का अभाव हो जाय किंतु जो पहले से
स्थित हैं, उनका अभाव कैसे हो? पहले स्थित होने के कारण प्रागवस्थ
बंध का भी स्नेह के अभाव से ही अभाव हो जाने से। मार्ग के तत्वाभिनिवेश रूप होने से
मिथ्याभिनिवेश का ही अभाव होगा, रागादि का कैसे अभाव होगा, यह कहना उचित नहीं है,
रागादि को भी मिथ्याभिनिवेश का ही विशेष रूप होने से रागादि बंध के कारण कैसे
है? यदि यह कहते हों तो बताते हैं—रागादि जीवस्य शरीरादि व्यतिरिक्त पुद्गल विशेष हेतु
सत्त्वान्मदिराद्यर्थिनस्तद्वागादिवत् रागादि जीव के शरीरादि से भिन्न पुद्गल विशेष से संबंध के
कारण हैं, रागादि होने से मदिरादि के इच्छुक के उसके रागादि के समान। अपने स्वरूप में
स्थित स्व पर ज्ञान स्वभाव वाले आत्मा के रागादि दोष कैसे हैं? जिससे उसको पुद्गल विशेष
से संबंध का कारण माना जाय, यह कहना भी उचित नहीं है, उस रागादि का भी पहले
रागादि कारण से ही संबंध होने से यथाहि—(तादृशस्थात्मनो रागादिस्तसंबंध
पूर्वकस्तत्वान्मदिरापीतस्य रागादिवत् सोऽपि तत्संबंधस्ततः प्राच्याद्वागादेव) रागादि युक्त आत्मा
के रागादि रागादि संबंध पूर्वक हैं रागादि होने के कारण मदिरा पीनेवाले के रागादि के
समान, मदिरा पीने वाले का भी मदिरादि से संबंध उससे पूर्व रागादि के कारण ही होता है,
इस प्रकार अनवस्था भी नहीं है, हेतु और फल रूप से रागादि और उनके संबंध की परंपरा
को अनादि होने से ॥ 138 ॥

तदुक्तम्—

जीवस्य संविदौ^२ रागादिहेतुर्मदिरादिवत् ।
तत्कर्मगतुकं तस्य प्रबंधोऽनादिरिष्यते ॥ इति ॥

**विषयस्तु मार्गस्य सप्तधा तत्वं “जीवाजीवाश्रवबंधसंवर्णनिर्जरा—
मोक्षास्तत्वम्” इति सूत्रात् लद्विषयत्वं च तस्य तञ्चिर्णयादेव ग्रवृत्ते ॥ 139 ॥**
कहा भी है—

^१ अव हेतुर्थं पक्षमी ।

^२ रागादिहेतुकाल ।

^३ संवित्स्वभावस्य ।

सांवित्स्यभाव वाले जीव के शास्त्रादि कारण भद्रिदादि के समान हैं, उन रागादि हेतुओं से आगन्तुक कर्म बनते हैं, यह परंपरा अनादि मानी गयी है। मोक्षमार्ग के विषय सात प्रकार के तत्त्व हैं—‘जीवाजीवाशब्दबंधसंवरान्जीर्णशमोक्षासत्त्वम्’ इस सूत्र के अनुसार जीव, अजीव, आचर, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष सात तत्त्व मोक्षमार्ग का विषय हैं, इनका निर्णय होने पर ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होने से ॥१३९॥

न हि जीवस्यानिर्णये तत्प्रवृत्तिरनिर्णीतस्या'पवर्गार्थित्वासंभवात् । नाप्य—
जीवस्य तदा^१ तत्संबंधस्य संबंधस्यानवगमेन तद्वियोगकांक्षानुत्पत्तेः । नाप्याश्रवस्य
बंधस्य च तत्रिदान^२निवर्त्तनद्वारेण शक्यनिवर्त्तनत्वानवगमेन कस्यवित्तनिवर्त्त
नायोद्यमानुपपत्तेः । नापि संवरस्य निर्जरामोक्षयोर्वा तदापि तस्य तत्रिदानप्रत्यनी—
कत्वस्य^३ तथोर्बंधविश्लेषस्वभावत्वस्य आनवगमेन तदनुपपत्तेः । कुलस्तर्हि
जीवादेनिश्चय इति चेत् न, ज्ञानस्यैव स्वपरसंवेदनस्वभावस्यान्वयिनो
जीवत्वात्स्य च कमानिरूपणे न निर्णयात्, तद्विलक्षणस्याजीवस्य
बंधतदाख्ययोश्च भागात्तदाख्यवनिरोधस्यांतदारेण बंधनिर्हरणस्याप्येक^४देशसकल
विकल्पस्योक्तनिर्णयत्वात् ॥१४०॥

जीव का निर्णय नहीं होने पर उसकी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति भी हो सकती, जिसका निर्णय भी है उसके भोक्ष का प्रयोजन असंभव होने से, अजीव का निर्णय भी होने पर भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अजीव को जाने दिना जीव और अजीव के संबंध को न जानने के कारण उसके योग की इच्छा नहीं उत्पन्न होने से आचर और बंध का निर्णय हुए दिना भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती, बंध के कारणों को दूर करने के द्वारा बंध की समाप्ति को जाने दिना किसी का उसकी समाप्ति के लिए प्रयत्न नहीं होने से संवर, निर्जरा और मोक्ष के अनिर्णय में भी मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इनको जाने दिना भी बंध के कारणों के विपरीत संवर को तथा निर्जरा और मोक्ष के बंध को पृथक् करने के स्वभाव को जाने दिना मोक्ष के लिए प्रयत्न नहीं किया जा सकता। जीवादि का निश्चय कैसे होता है? यह कहना ठीक नहीं है, स्वपरसंवेदन स्वभाव वाले जीव के साथ सदैय रहने वाले ज्ञान को ही जीवत्व होने से और उक्त क्रम का निरूपण नहीं होने पर जीव का भी निर्णय नहीं होने से। उससे विलक्षण अजीव, बंध तथा उनके आचर का, आचर निरोध (संवर) के द्वारा बंध को खोकने का तथा एकदेश कर्मों के क्षय रूप निर्जरा और सकलदेश क्षयकर्म मोक्ष का उक्त प्रकार से निर्णय होने से जीवादि का निश्चय होता है ॥१४०॥

^१ पुस्त इति शेषः ।

^२ अनवगमसमये ।

^३ मिदानं कारणः ।

^४ तत्स्य निदानं तस्य प्रत्यनीकरण भावसत्त्वं ।

^५ संवरस्य ।

^६ एकदेशेन निर्जरा, सकलदेशेन मोक्षः ।

कथमेव^१ "तपसा निर्जरा च" इति संवरनिर्जरयोस्तपो निमित्तत्वमभिहितं तपसः कायपरितापरुपस्यामार्गगत्वादिति चेत् न, तपशब्देन तत्रापि^२ तत्त्वज्ञानं परिपाकपरिकलितस्य बाह्योत्तरव्यापारोपरमलक्षणस्य ^३चारित्रस्यैव प्रतिपादनादनशनादीनां तत्परिबृहणपरतयैव तपस्त्वात् न मुख्यतः। यद्येवं चारित्रादेव तादृशादास्यवनिरोधे कथमध्यधायि, "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीष्ठहजयचारित्रैः" इति गुप्त्यादरेपि तन्निरोध इति चेत् न, तस्यापकृष्टतद्विकल्परूपतया लेशतस्ततोऽपि तदुपपत्तेः ॥141॥

सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग से ही कर्मों से मुक्ति होती है तो फिर "तपसा निर्जरा च" इस सूत्र के द्वारा संवर और निर्जरा का कारण तप को क्यों कहा गया है? तप को शरीर को कष्ट देनेवाले के रूप में होने से विपरीत मर्म का अंग होने से यह कहना उचित नहीं है, वहाँ भी तप शब्द से तत्त्वज्ञान की परिपक्षता से युक्त बाह्य और आन्तरिक व्यापार के शांत होने रूप चारित्र का ही प्रतिपादन होने से, अनशनादि बाह्य और अभ्यंतर तपों को उस चारित्र की वृद्धि करनेवाला होने से ही तप कहा गया है, मुख्य रूप से नहीं। यदि इस प्रकार चारित्र से ही आश्रव का निरोध हो जाता है तो "स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षा परिष्ठहजयचारित्रैः" सूत्र के द्वारा गुप्ति आदि से भी आश्रव का निरोध क्यों कहा गया है? यह कहना उचित नहीं है, उसके चारित्र के अपकृष्ट विकल्प के रूप में होने के कारण कुछ अशों में उससे भी आश्रव भिरोध होने से ॥141॥

"कोदृशस्ताहि मोक्षं जीवो नीरूप एव न भेदत्येव केवलमित्यभ्युपगमादिति चेत् न, ततः प्रागनुवृत्तिस्यभावतया प्रतिपत्रस्य तदापि पूर्ववत्तत्त्वभाव-परित्यागानुपपत्तेः। न प्रागपि तस्य वास्तवमनुवृत्तिमत्वमध्यारोपादेव तस्य भावादिति चेत् न, अध्यारोपस्याप्यपरापरक्षणेष्वेकत्वाद्यवसायस्य तत्प्रतिपत्तिविकलादयोगात् क्षणपर्यवसायिनश्च कुरुत्वित्प्रत्यक्षादिवत्तत्प्रतिपत्तेरनुपपत्तेः, अपरापरसमयानुपातित्वस्य तत्र वास्तवत्ये वस्तुसत् एव लद्वूपतया जीवस्य व्यवस्थितेः। काल्पनिकत्वे तत्कल्पनाकारिण्यप्येवं प्रसंगेनानवस्थोपनिपातात्। ततो वास्तवमेव तस्यानुवृत्तिमत्वं कल्पनया लदनुपपत्तेरिति मोक्षे नीरूपत्वमुपपत्रम् ॥142॥

तटस्थ कहते हैं—तब मोक्ष में जीव कैसा रहता है? नीरूप रहता है। प्रतिपक्षी बीद्ध कहते हैं—केवलमेतिशान्तिभूमिति भाग्ना जाने से वह नीरूप नहीं रहता है, उनका यह कहना उचित नहीं है। मोक्ष से पहले अनुवृत्ति जीवत्व स्थभावतः को प्राप्त जीव का मोक्ष होने पर भी

^१ मोक्षमार्गदेव भवति चेदिति शंकया ।

^२ सूत्रे ।

^३ "भयहेतुप्राहत्याथ बहिरम्यतशक्तियाविभिवृत्तेः परं सम्यक्चारित्रं ज्ञानिनो मतम्" ।

^४ तटस्थो वक्ति, बीद्धः प्रत्यवतिष्ठते, निस्त्वभावः सर्वशून्यः इत्यर्थः ।

^५ .. दीघो यथा निर्मृतिमध्युपैति नैवावनि गच्छति नांतरिक्षं दिशं च काचिद्विदिशं न काचित्तनेहक्षयात्केवलमेतिशाति । "जीवस्तथा निर्मृतिमध्युपैति गैवावनि गच्छति नांतरिक्षं दिशं न काचिद्विदिशं च काचिद्विश्वोहक्षयात्केवलमेभति शांकते ।

पहले के समान ही अनुवृत्तिजीवत्व स्वभाव का परित्याग नहीं होने से। यदि यह कहो कि पहले भी जीव के वारतात्मक अनुवृत्ति युक्तता नहीं है, अध्यारोप से ही उसके होने से तो अपर-आपर क्षणों में एकत्वाध्यवसायरूप अध्यारोप की प्रतिवृत्ति नहीं होने से, अध्यारोप नहीं हो सकता। क्षणस्थायी की प्रतिपत्ति भी प्रत्यक्ष के सम्बन्ध अन्य किसी प्रमाण से नहीं होती। अपरापर समय युक्तता को वहाँ वास्तविक होने पर सत् वस्तु के रूप में ही जीव की व्यवरित्ति होने से, काल्पनिक होने पर उस कल्पना करनेवाले में भी इस प्रकार का प्रसंग होने पर अनवश्य दोष अर्थेगा। अतः जीव का अनुवृत्तिमत्व वास्तविक ही है, कल्पना से अनुवृत्तित्व की उत्पत्ति नहीं होने से, अतः मोक्ष में नीरुपत्त्व सिद्ध होता है। ॥142॥

भवतु^१ तहि जीवस्तदानी ब्रह्मवेदे ब्रह्मैव भवतीत्यामनात् ब्रह्मणैक्यमाप्न
इति चेत् न, ब्रह्मणस्तदापि प्रागिव तद्वेदापरित्यागे तदनुपपत्तेः। तत्परित्यागे
चातादैवस्थ्येनानित्यत्वापत्त्या नित्यं ब्रह्मेति प्रतिज्ञाव्यापत्तेः। प्रागपि तेनैक एव
जीवः केवलमविद्यानिबंधन एव भेद इति चेत् न, तदभेदिनस्तस्य तद्वेव
सुविशुद्धज्ञानस्वभावतया तस्याप्यविद्यानुपपत्तेः। भवतु को दोष इति चेत् न, तत्र
नित्यनिर्मुक्ततया मुक्तयर्थस्यात्मदर्शनश्रवणमननादेशम्नायाभिरुद्धस्यानर्थक्या —
पत्तेः ॥143॥

विधिवादी कहते हैं जीव को मोक्ष होने पर उस समय वह “ब्रह्मवेदे ब्रह्मैव भवति”
इस आम्नाय के अनुसार वह ब्रह्म से ऐक्यपत्ति को प्राप्त कर लेता है, यह कहना ठीक नहीं
है, ब्रह्म के उस समय भी पहले के समान उससे भेद को त्यागे बिना ब्रह्म की उपपत्ति नहीं
होने से। उसको त्यागने पर यूर्व अवस्था का त्याग होने पर अनित्यत्व की आपत्ति आने से
“नित्यं ब्रह्म” इस प्रसिद्धि का आधार हो जायगा। उससे पहले भी एक एव जीवः
केवलमविद्यानिबंधन एव भेद^२ इसके अनुसार एक ही जीव है, केवल अविद्या के कारण ही
भेद दिखाई देता है, यह कहना भी ठीक नहीं है, ब्रह्म से अभिन्न जीव के उसी के समान
सुविशुद्ध ज्ञान स्वभावता के कारण उसके अविद्या की उपपत्ति नहीं हो सकती। ऐसा ही मान
लो क्या दोष है? यह नहीं कह सकते। ऐसा मानने पर जीव के नित्य निर्मुक्तता होने के
कारण मोक्ष के लिये आम्नाय के अनुसार आत्म दर्शन, श्रवण, मनन आदि को अनर्थकता
प्राप्त होने से ॥143॥

अस्तु^३ तहि जीवस्तदानी निरवशेषबुद्ध्यादिवैशेषिकगुणनिर्मुक्त इति चेत्
न, तस्य बुद्ध्यादिस्वभावत्वेन तदभावे सत्यमावस्थैव प्रसंगात् तदुपत्त्वं च
तस्याऽहं बोद्धाऽहं द्रष्टेतिबुद्ध्यादिसमानाधिकरणतया प्रत्यवभासनादिति चेत्
समानाधिकरणतया प्रत्यवभासनस्य च द्रव्यत्वं सामान्यमित्यादावभेदनिबंधनस्थैव
प्रतिपत्तेः। बुद्ध्यादेशम्नादस्तदगुणत्वेन भेदान्मिथ्यैव तथा तत्प्रतिभासनमिति चेत्,
कुतो भेदेऽपि स तस्थैव गुणो नाकाशादेरपि, समवायस्य तत्त्विवंधनस्य तत्रापि

^१ विधिवादी वक्ति।

^२ पूर्वाधिकरण अभावत्वेन।

^३ जीवो वदति।

भावात् स्वगतात् कुलशिद्विशेषादिति चेत् सः कोऽपरोऽन्यत्र कथंचिदभेदात्
इति न ज्ञानादिव्यसिरेकी जीवः समवतीति ॥144॥

जीवाधार कहते हैं, तब मुक्त होने पर जीव संपूर्ण रूप से बुद्धयादि ऐशेषिक गुण से रहित हो जाता है, उनका यह कहना भी समीक्षीन नहीं है, जीव के बुद्धयादि स्वभाव वाला होने से बुद्धयादि का अभाव होने पर स्थूल के अभाव का प्रसंग होने से। जीव बुद्धयादि स्वभाव वाला है “अहं बोद्धा अहं दृष्टा” इस प्रकार “बुद्धयादि” के स्वभावस्थितरण “रूप” ऐ प्रतिभासित होने से प्रतिपक्षी कहते हैं—समानाधिकरण के रूप में प्रत्यवभासन को तो द्वयत्व है सामान्य आदि में अभेद के कारण की ही प्रतिपत्ति होने से बुद्धयादि को आत्मा का गुण होने के कारण उससे भेद होने से ‘अहं बोद्धा अहं दृष्टा’ आदि का प्रतिभासम मिथ्या ही है, यदि यह कहते हो तो यह क्षताओं कि वह जीव का ही गुण क्यों है? आकाश आदि का भी क्यों नहीं है? उसके कारण समवाय को वहां भी होने से अपने ही किसी विशेष से यदि यह कहते हो तो कथंचित् अभेद के अतिरिक्त वह अन्य कौन है? अतः ज्ञानादि से भिन्न जीव नहीं हो सकता ॥144॥

मवतु तर्हि तदाचिन्मात्रमेव तस्य तत्वमिति^१ चेत् किमिदं चिन्मात्रमिति? दृश्योपलंभव्यावृत्तं स्वावभासनमिति चेत् तदुपलंभस्य तत्स्वभावत्वे कथं ततो व्यावृत्तेरनित्यत्वापत्तेरतत्स्वभावत्वे प्रागपि^२ कथं स तस्य? तत्स्वभावया प्रकृत्या^३ संसर्गादिति चेत् न तर्हि कदाचिदपि ततो व्यावृत्तिः प्रकृत्या नित्यव्यापिकतया तत्त्विवधनस्य संसर्गस्य सर्वदाऽपि भावात् नाऽपि रागादिमलविलयपरिशुद्धो निरन्वयपरिशुद्धो विनश्वरबोधक्षणप्रबंध एव तदा स इति साप्रतं निरन्वय—विनाशित्वे बोधक्षणानामर्थकियाकारित्वस्य प्रतिक्षिप्तत्वेन प्रबंधानुपपत्तेः ॥145॥

सांख्य कहते हैं— तब चिन्मात्र ही उसका स्वरूप है। आचार्य कहते हैं— यह चिन्मात्र क्या है? (दृश्योपलंभ) घटादि की उपलब्धि से रहित स्वावभासनमात्र है यदि यह कहते हो तो घटादि का ज्ञान भी उसका स्वभाव होने के कारण उससे व्यावृत्ति कैसे होगी, अनित्यत्व का प्रसंग आने से। यदि घटादि को जानने का उसका स्वभाव नहीं है, तो मुक्ति से पहले भी वह कैसे जानता है? उस स्वभाव वाली प्रकृति के संसर्ग से, यदि यह कहते हो तो फिर जीव प्रकृति से कभी अलग नहीं हो सकता, प्रकृति के नित्य और व्यापी होने के कारण उसके कारण होने वाले संसर्ग के हमेशा ही होने से इन रागादि मल के विलय हो जाने से अत्यंत विशुद्ध निरन्वय परिशुद्ध विनश्वर बोधक्षण प्रबन्ध ही उस समय वह है, निरन्वय विनाशी होने पर बोधक्षणों के अर्थकियाकारित्व का निश्चकरण करने से उसके प्रबन्ध की अनुपपत्ति होने से ॥145॥

^१ स्वसंग सांख्यस्य मतमदः।

^२ घटाद्युपलंभप्या वृत्तः।

^३ अन्धेति शेषः।

^४ मुक्ते प्रागित्यर्थः।

^५ प्रधानेन।

^६ नित्यत्वात् व्याप्तित्वाच्च।

तस्पात्रिमुलनिर्मलकर्मबधोऽतिनिर्मलः ।
 'व्यावृतानुगताकारोऽनंतमानंददृग्बलः' ॥11॥
 निःशेषद्व्यपर्यायसाक्षात्करणभूषणः ।
 जीवो मुक्तिपदं प्राप्तं प्रपत्तव्यो मनीषिभिः ॥12॥

अतः भोक्त छोने घर जीव कर्मबध से निर्मल मुक्त होकर अत्यन्त निर्मल कर्मों से रहित ज्ञानादि गुणों से युक्त अनन्त अनन्त अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य वाला अखिल द्रव्य की अखिल पर्यायों को साक्षात् जानने वाला हो जाता है, ऐसा विद्वानों को जानना चाहिये ॥11,2॥

भवतु नाम निश्चितलक्षणेन प्रत्यक्षादिनाऽसंवादात्तद्विषयेण प्रमाण्यमा—
 गमस्यात्यंतपरोक्ते तु जगत्सनिवेशविशेषादौ कथं निर्णत्यमतिरिण्ये^१
 तत्त्वज्ञानस्यापरिपूर्णतया निःशेषनिबंधनत्वाभावप्रसंगादिति चेत् न, तद्विषयस्थापि
 प्रवचनस्य प्रत्यक्षादिसंवादबलादवधारितप्रमाण्यप्रवचनसमानकर्तृकत्तया
 तत्रिण्यात् । न च निःशेषनिर्धूतरागादिदोषस्य सर्ववेदिनः कवचित्तथा भित्या
 चान्यत्र वचनप्रवृत्तिः संभवति, रागादिमत्यतत्त्वज्ञ एव तथा तत्प्रवृत्तेरुपलंभात् ।
 समानकर्तृकत्त्वमपि तत्रभागस्य^२ भागांतरेण^३ शास्रांतरवदविच्छिन्नादुपदेश—
 पासंपर्यावर्गते ॥146॥

शंकाकार कहते हैं—निश्चित लक्षण वाले जीवादि सात तत्त्वों को विषय करने वाले आगमांश को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविसंवादी होने के कारण प्रमाणता मान लौ जाय किन्तु अत्यंत परोक्त जगत की स्वच्छा आदि के विषय में उसकी प्रमाणता का निर्णय नहीं होने पर तत्त्वज्ञान की परिपूर्णता नहीं होने से मोक्ष के कारणत्व के असाक का प्रसंग आयेगा, ऐसा कहना ठीक नहीं है। जगत की स्वच्छा आदि विषयक प्रथचन को भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बल से अवधारित प्रमाणिक प्रवचन के समान होने के कारणप्रमाणता का निर्णय होने से संपूर्ण रागादि दोषों को नष्ट कर देने वाले सर्वज्ञ की कहीं सत्य और कहीं भित्या वचन प्रवृत्ति संभव नहीं है, रागादि वाले असर्वज्ञ में ही तथा वचन प्रवृत्ति देखी जाने से अत्यंत परोक्षार्थ प्रतिपादक आगमांश की प्रत्यक्षादि प्रसिद्धार्थ प्रतिपादक आगमांश के साथ समानता भी है, एक शास्त्र से दूसरे शास्त्र की समानता के समान उपदेश परंपरा से ऐसा जाना जाने से ॥146॥

^१ कर्माण्यः व्यावृत्तः, संविदादिनानुगतः ।

^२ अनंतसुखदर्शनवीर्यज्ञानश्चलः ।

^३ अत्यंतपरोक्षार्थप्रतिपादकस्यागमांशस्य प्रमाण्यानिर्णये ।

^४ अत्यंतपरोक्षार्थप्रतिपादकागमांशस्य ।

^५ प्रत्यक्षादिप्रसिद्धार्थप्रतिपादकागमांशेन सह ।

१ पदादि॒रूपमेव प्रवचनं पदादेश्च स्फोटात्मनो निकलस्य^३
 नित्यात्मेष्टपौरुषेयत्वाह् । ऊर्थं रुद्रात्मनः प्रवचनस्य पुरुषगुणवशात्प्रामाण्यमिति
 चेत् न, वर्णक्रमस्यैव पदादित्वात्तदपि तदन्यस्य तस्याप्रतिपत्तेः ।
 वर्णनामितरेतरकालपरिहारावस्थायिनां कथमेकत्र वस्तुप्रतिपत्तादुपयोग इति चेत् ।
 इतरेतरदेशपरिहारावस्थायिनां कारणानामप्येकत्र कार्यं कथं? तेषां यथास्वदेशं
 भावादिति चेत् न, वर्णनामपि यथा रुक्मालं विद्यमानत्वस्याविशेषात् अवश्यं
 चैवमध्युपरगतव्यमन्यथा तात्पादिपरिस्पैदस्यापरसमयभाविनः एकत्र
 पदादिस्फोटाभिव्यक्तावप्यनुपयोगित्वेनानर्थकत्वप्रसक्ते ॥ १४७ ॥

प्रवचन पद वाक्यादि रूप होते हैं और पदादि स्फोटात्मक और निरश होते हैं।
 उनके नित्य और अपीरुषेय होने से कैसे उस पदादिरूप प्रवचन को पुरुष के गुण के
 कारण प्रमाणता है? यह कहना भी उचित नहीं है। वर्ण क्रम को ही पदादिपता होने से
 उसको प्रमाणता भी है, उससे भिन्न अन्य के प्रामाण्य की प्रतिपत्ति नहीं होने से।

वर्णों के दूसरे—दूसरे काल में न रहने पर वरतु की प्रतिपत्ति में उनका उपयोग
 कैसे है? यदि यह कहते हों तो फिर दूसरे दूसरे देश में भी रहनेवाले कारणों का भी कार्य में
 कैसे उपयोग हो सकता है? उनके यथा स्वदेश में होने से कार्य में उनका उपयोग हो जाता
 है, यदि यह कहते हों तो फिर यर्णों को भी यथा रुक्माल से विद्यमान होने से उनका भी
 वस्तु की प्रतिपत्ति में उपयोग हो जायगा, दोनों में समानता होने से। यह अवश्य मानना
 चाहिये, अन्यथा तात्पादिके व्यापार को भी भिन्न भिन्न समय में होने पर एक स्थान पर
 पदादि स्फोट की अभिव्यक्ति में अनुपयोगी होने से उनके अनर्थक होने का प्रसंग होने
 से ॥ १४७ ॥

कथं स्फोटादर्थप्रतिपत्तिः? स्वाधीनाभिव्यक्तिकादनभिव्यक्तिकाद्वा
 ततोऽर्थप्रतिपत्तौ सर्वदा सर्वस्यापि तत्स्तादापत्तेः ततो वर्णक्रमनिदेशरूपमेव
 पदादिकं तस्य च पौरुषेयत्वादुपपत्रं पुरुषगुणायत्तं तत्र प्रामाण्यं ॥ १४८ ॥

स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति कैसे होती है? स्वाधीन अभिव्यक्ति करने वाले या
 अभिव्यक्ति न करनेवाले स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति होने पर सदा सबको ही स्फोट से अर्थ
 की प्रतिपत्ति का प्रसंग आयेगा। अतः वर्णक्रम की रचना रूप ही पदादि हैं और उसके
 पौरुषेय होने के कारण पुरुष के गुणों के कारण आगम की प्रमाणता सिद्ध होती
 है ॥ १४८ ॥

^१ भाष्ट आह ।

^२ आदिशब्देन वाक्यरूप ग्रहण ।

^३ निरशांस्य ।

^४ व्यापादरत्येति ।

^५ रचना ।

कथं पुनरेवमनित्यत्वे शब्दस्य तस्माद् व्यवहारोऽप्रतिपत्रसमया^१त्त-
दनुपपत्तेः प्रतिपत्रसमयस्यापि तस्य व्यवहारकालं यावदस्थितेरिति चेत् न,
समयस्याऽप्य॑ यमरयेत्यकरणात्। कथं तर्हीदृश ईदृशस्य वाचक इति^२?
‘ततस्तात्कालिकस्येव’ कालांतरभाविनोऽपि लादृशतया समयविषयत्वादुपपद्यत
एव तस्य व्यवहारोपयोगित्वं। कर्तव्यश्चैवमंगीकारस्तात्वादिव्यापारजन्मनो
ध्वनिविशेषस्याप्यनित्यस्यैवमेव समयविषयतया वर्णाभिव्यक्तावुपयोगादित्यलमति
विस्तरेण ॥149॥

शंकाकार कहते हैं शब्द के अनित्य होने पर उससे व्यवहार कैसे होता है, व्यवहार के समय तक शब्द के नहीं रहने पर उससे व्यवहार नहीं होने के कारण समयपद्यन्त रहने पर भी वह व्यवहार काल तक स्थित नहीं रहता, अतः उससे भी व्यवहार नहीं हो सकता, यह कहना उचित नहीं है, समय प्राप्त शब्द को भी यह शब्द इस अर्थ का वाचक है, यह संकेत नहीं होने से, किर इस प्रकार के अर्थ का वाचक यह शब्द है, यह कैसे निश्चित लिङ्ग लासकता है। अतः तात्कालिक शब्द के समान कालांतर भावी शब्द को भी उसीके समान समय का विषय होने से उसका व्यवहारोपयोगित्वं सिद्ध ही हो जाता है। यह स्थीकार करना चाहिये तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न द्वारा अनित्य ध्वनिविशेष को इसी प्रकार समय का विषय होने से वर्णों की अभिव्यक्ति में उपयोगी होने से अधिक विस्तार की क्षमा आवश्यकता है? ॥149॥

कथं पुनरनित्यत्वे शब्दस्य स एवायमकार उकारो वा यः प्रागश्रावीति
प्रत्यभिज्ञानं सत्येव नित्यत्वे तदुपपत्तेरिति चेत् न, तदगतात्कुतश्चित्सामान्य-
विशेषादेव^३ तदवक्लृप्तेः। तस्य^४ सदृशपरिणामरूपत्वात्तादृशोऽप्यमिति भवतु
ततस्तदवक्लृप्तिः कथं पुनः स एवायमिति चेत् न, तथा तर्हीपि कलमकेशादौ
तदुपलब्धेः। भ्रांतमेव तत्र तल्लूनपुनरुत्पन्नतया भेदिनि वस्तुत एकत्वस्याभावात्
इति चेत् न, वर्णादिष्वपि तदविशेषात् व्याप्रादुर्भावयोस्तत्रापि
प्रत्यक्षतोऽप्यवसायात्। तदनेन^५ तद्वातत्र व्यापित्ववर्णनमपि प्रत्याख्यात
घटादिष्वव्यापिष्वेव तत्रापि तद्वावात्। व्यापिनः सामान्यस्य भावादेव घटादिष्वपि
तद्वाव इति चेत् न, लादृशस्य प्रवेदनासंभवात्तसंभवेऽपि दर्णेष्वपि तत एव
तदिति^६ कथं ततस्तदव्यक्तिषु तत्वं^७ प्रतिपत्तिः? कीदृशः पुनरसौ शब्दो यस्य

^१ शब्दात्।

^२ अयं शब्दोऽप्यार्थस्य वाचक इति।

^३ ईदृशस्यार्थस्येदृशः शब्दो वाचक इति संकेतकरणं कथं।

^४ कारणतः।

^५ शब्दस्य।

^६ कुशाचित्सामान्यात्।

^७ शब्दस्य।

^८ घूर्वोक्तश्चयेन नित्यत्वनिराकरणेन वा।

^९ अस्त्विति शेषः, तथाचनिष्ठं मीभासकस्य कुतः तण्डिष्वेव व्यक्तिवत्तेन सामान्यान्विकरणात्।

^{१०} एकत्वं।

प्रादेशिकस्यानित्यस्य व्योपकल्पनमिति चेत् पौदगलिक इति ब्रूमः तथा
 हि—पुदगलविवर्तः शब्दः इंदियवेदात्मात् कलशादिसंख्यानवत्। तोयादि^१संख्यानेन
 व्यभिचारस्तस्य सत्यपि तद्वेद्यत्वे तद्विवर्तत्वाभावात्। सोऽपि तोयादौ
 स्पर्शादिस्वभावचतुष्टयस्याभावेन तल्लक्षणस्थपुदगलस्याभावादिति चेत् न,
 तत्राप्यनभिव्यक्तस्य गंधादेः स्पर्शवत्त्वादेव लिंगात्पृथिव्याभिव प्रतिपत्तेः
 अनुद्भूतस्वभावत्वाच्च हेम्युष्णस्पर्शवदनुपलंभस्याप्यविरोधात्^२ पृथिव्यादिरूपतया
 चातुर्विद्यस्यापि धारण इवोष्णेरपरूपतया पुदगलतत्वाविशेषेऽप्युपपत्तेः तत्रार्थ
 नियमः, आपो रसरूपस्पर्शवत्यस्तेजोरूपस्पर्शवत् वायुः स्पर्शवानिति। नापि
 सामान्यैः कर्मभिर्व्यभिचारस्तेषां तद्वतो भेदे तद्वेद्यत्वस्याप्रतिवेदनात्, अभेदे तु
 तद्वतः पुदगलतया सद्विवर्तत्वेन लेङ्गु सज्जाररौऽभद्रात् मूर्तितदिव्यवेद्यत्वस्यैव
 पौदगलिकत्वेन व्याप्तिर्न च शब्दस्य तदस्ति तदिंद्रियस्यामूर्तत्वादिति चेत्,
 कथमेवमन्योऽपि हेतुर्द्वडादिनिवंधनस्यैव कृतकस्वस्यानित्यत्वेन व्याप्तिर्न च
 शब्दस्य विद्यत इत्थपि वदतो निवारयितुमशक्यत्वात् कृतकत्वमात्रस्यैव तेन
 व्याप्तौ प्रकृतेनाप्यैदियत्वमात्रस्यैव सा वक्तव्या। किं वा तद्मूर्तिमतींद्रियम्?
 आकाशमिति चेत् न, तस्य व्यापित्येनातिदूरस्यापि शब्दस्य सर्वस्यैकंदियत्वेन^३
 सर्वविषयस्यैकेनैकविषयस्य सर्वेण श्रवणप्रसंगात्। कर्णशङ्कुलिविवरपरिच्छन्नस्तस्य
 प्रदेश इति चेत् न, तस्य वास्तवत्वे कर्यत्वे च नभसः कलशादिवदनित्यत्व—
 प्रसंगात्, काल्पनिकस्य च व्योमकुसुमादिवदिंद्रियत्वानुपपत्तेः। अतः
 क्षयोपशमस्वभावशक्तिविशेषाद्यासितजीवप्रदेशाधिष्ठितस्य शरीरावयवस्यैव श्रोत्रत्वं
 तत्संस्पर्शनेनैव शब्दस्य श्रवणमिति न तस्यैदियान्तरात्कर्त्तिवद्विशेषः। ॥१५०॥

शब्द के अनित्य होने पर कह ही यह अकार या उकार है, जो पहले सुना था, यह
 प्रत्यभिज्ञान कैसे हो सकता है, शब्द के नित्य होने पर ही इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञान के
 होने से (यह कहना ठीक नहीं है किसी सामान्य विशेष से उसका ज्ञान होने से) शंकाकर
 कहते हैं—शब्द के सदृश परिणाम रूप होने के कारण यह उसके समान है, इस प्रकार का
 शब्द से ज्ञान हो जाय, किंतु यह कही है, यह ज्ञान नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं
 है, अनित्य शब्द से भी कलम कैशादि में उसकी उपलब्धि होने से शंकाकर कहते हैं—कि
 शब्द के नष्ट हो जाने और पुनः उत्पन्न होने से भिन्न शब्द में वास्तविक एकत्व का अभाव
 होने से इस प्रकार का ज्ञान भ्रान्त ही है (आर्थार्थ कहते हैं यह कहना भी ठीक नहीं है
 वज्ञादि में भी यह बात सामान्य होने से, व्यय और उत्थाव का वहाँ भी प्रत्यक्ष से निश्चय
 होने से) अतः नित्यत्व के निराकरण के द्वारा शब्द में व्यापित्य के वर्णन का भी निराकरण हो
 गया, घटादि के अव्यापी होने पर वहाँ भी प्रत्यभिज्ञान होने से व्यापी सामान्य के होने से ही

^१ आदिशब्देन तेजोयाय् गृहीतत्वौ।

^२ पृथिव्यादेः पुदगलतत्वाविशेषतः भेदः कथमिति चेत्।

^३ चलशास्त्रकैः।

^४ कृतकत्वादि।

^५ श्रोत्रैकंदियत्वेन।

घटादि में भी प्रत्यभिज्ञान होता है, यह नहीं कह सकते। उस प्रकार का ज्ञान नहीं होने से होने पर भी वर्णों में भी उसी से (सामान्य से) एकत्व का ज्ञान हो जायगा।

विपक्षी कहते हैं उस सामान्य से अद्यत शब्दों में एकत्व की प्रतिपत्ति कैसे होगी? जिसकी प्रदेशिक और अनिव्य की कल्पना की जाती है, यदि यह कहते हों तो पौद्गलिक है, ऐसा कहते हैं। तथाहि (पुद्गलविवर्त शब्दः इन्द्रियवेदात्यात् कलशादि संस्थानवत्) शब्द पुद्गलका विकार है, इन्द्रिय से जाना जाने से कलशादि संस्थान के समान। जल तेज वायु आदि के साथ व्यभिचार है, उसके इन्द्रियवेद्य होने पर पुद्गलविवर्तत्व का अभाव होने से। लोयादि में पुद्गलविवर्तत्व का अभाव है स्पर्श रस गंध वर्णरूप स्वभावचतुष्टय के अभाव में पुद्गल के ज्ञानात् तथा अभाव होने से। ऐसा ज्ञानात् तीक नहीं है। वहाँ भी गंधादि के अभिव्यक्त नहीं होने पर स्पर्शवित्त्व हेतु से ही पृथक्षी में स्पर्शादि चतुष्टय की प्रतिपत्ति के समान स्वभाव चतुष्टय की प्रतिपत्ति होने से। अनुद्भूतस्वभावत्व के कारण सोने में उच्छ्र स्पर्श के समान अनुपलंभ का भी विरोध नहीं होने से। पृथक्षी आदि रूप होने से स्पर्श रस गंध वर्ण चतुष्टिय स्वभाव धारण करने के समान उच्छ्र स्पर्श रूप से पुद्गल तत्त्व की समानता होने से। अतः यह नियम नहीं है कि जल रस रूप और स्पर्श वाला है, तेज रूप और स्पर्शवाला है, वायु स्पर्शवाला है। सामान्य कर्मों के साथ भी व्यभिचार नहीं है कर्मों के स्पर्शादि चतुष्टय वाले से भिन्न होने पर इन्द्रियवेदात्य का प्रतिवेदन नहीं होने से अभिन्न होने पर पुद्गल होने के कारण पुद्गलविवर्तत्व के कारण उनमें सपक्ष के ही होने से।

मूर्तिमान् इन्द्रियों से वेद्य को ही पौद्गलिकत्व से व्याप्ति है, शब्द मूर्तिमान् इन्द्रियों से वेद्य नहीं है, शब्द को प्रहण करने वाली इन्द्रिय के अमूर्त होने के कारण, यदि ऐसा कहते हों तो अन्य कृतकत्व आदि हेतु भी कैसे शब्द को अनित्य सिद्ध कर सकेंगे, दंडादि के कारण से होने वाले कृतकत्व की ही अनित्यत्व से व्याप्ति है, शब्द के वह नहीं है ऐसा कहनेवाले के कथन का भी विरोध नहीं किया जा सकने के कारण कृतकत्व मात्र की ही अनित्यत्व से व्याप्ति होने पर पौद्गलिकत्व के साथ भी इन्द्रियवेदात्य मात्र की ही व्याप्ति कहनी चाहिये। फिर वह अमूर्तिक इन्द्रिय क्या है? आकाश को तो कह नहीं सकते, उसके व्यापी होने के कारण अत्यन्त दूर के सभी शब्द को श्रोत्र एकेन्द्रियत्व के कारण सब विषय एक के द्वारा और एक विषय को सबके द्वारा सुनने का प्रसंग आने से। कर्णशङ्कुलिविदर से ढंका हुआ आकाश का प्रदेश है, यह भी नहीं कह सकते, उसके वारतविक होने और कार्य करने पर आकाश को कलशादि के समान अनित्यत्व का प्रसंग होने से, काल्पनिक को आकाश कुसुमादि के समान इन्द्रियत्व नहीं होने से। अतः कथोपशम स्वभाव रूप शक्तिविशेष से द्वितीय जीव प्रदेश से अधिष्ठित शरीर का अवयव ही श्रोत्र है, उसके स्पर्श से ही शब्द सुना जाता है और अन्य इन्द्रियों से उसकी कोई विशेषता नहीं है। ॥१५०॥

कथं पुनः पौद्गलिकत्वे शब्दस्य घटादिवदव्यापकत्वात्रानादेश^१—
स्थीर्युगपदुपलंभः? श्रोत्रस्याप्राप्यकारित्वादिति चेत् न, तत्र प्राप्यकारि श्रोत्रं
प्रत्यासन्नग्राहित्वात्, यत्रैवं तत्रैवं यथा नयनं, तथा च श्रोत्रमिति प्राप्यकारित्वस्य
व्यवस्थापनात्। प्रत्यासन्नग्राहित्वं च तस्य तत्र एव तद्विवरवर्त्तिनः

^१ पौद्गलिकत्वेन घटादेवत्वापकल्पेऽपि नयनस्य प्राप्यकारित्वाद्युपलंभो यथा, तथा शब्दस्यापि कुतो न
स्थादिति प्रहन इत्याह।

कीटकादिध्वानस्याप्रतिपत्तेः । साधनवृत्तिश्च नयनात्ततोऽजनादेस्तदगलस्या—
प्रतिवेदनात्तदप्राप्यकारित्वस्य च प्रत्यक्षनिर्णये निरूपितत्वात् ॥151॥

शंकाकार कहते हैं—शब्द के पौद्वलिक होने पर घटादि के समान अव्यापक होने से
नाना देशों में रहने वाले व्यक्तियों के द्वारा एक साथ कैसे सुना जाता है? श्रोत्र के
आपायकारी होने से [यह नहीं कह सकते] श्रोत्र प्राप्यकारी है निकटवर्ती शब्द को ही ग्रहण
करने से जो निकटवर्ती को ग्रहण नहीं करता, वह प्राप्यकारी नहीं है जैसे नेत्र, श्रोत्र
प्रत्यासन्नग्राही है इस प्रकार उसको प्राप्यकारी सिद्ध किया जाने से श्रोत्र को प्रत्यासन्न
ग्राहित्व है, प्रत्यासन्न ग्राही होने से ही उसके विवर में रहने वाले कीड़े आदि के शब्द को
नहीं सुने जाने से [साधन व्यावृत्ति भी है, आँख के द्वारा आँख में लगे हुए अंजन आदि को
न जानने से, उसके अप्राप्यकारित्व को प्रत्यक्षनिर्णय के समय निरूपित किया जा चुका
है] ॥151॥

कथमेवमेकश्रोत्रप्रविष्टस्य वर्णस्य तदेवान्ते अवणमिति?न, वर्णस्य
नानादिगमिमुखप्रवृत्तिकसदृशानेकस्वरूपतयैव स्वठेतबलतो गंधवदेव प्रादूर्भावात् ।
३८ हि गंधस्यापि युगपत्रानादशस्थधारणेद्वियप्राप्तिरेकस्यवाव्यापिनी लोष्टवदेव
तदनुपपत्तेः तत्रैव प्रवचनस्यापौदगलिकत्वपरिकल्पनमुपपत्रम् ततः स्थितं सकल
भावाधिष्ठानयोरनेकांतपरिणामयोर्मार्गतद्विषययोश्च प्रतिपादकं प्रवचनमविसंबाद—
भावातद्वावस्य च निरूपितत्वात्प्रमाणमिति ॥152॥

इस प्रकार एक श्रोत्र में प्रविष्ट वर्ण को दूसरे लोग कैसे सुन लेते हैं? यह कहना
ठीक नहीं है [वर्ण को नाना दिशाओं में अभिमुख होने की प्रवृत्तिवाले सदृश अनेक स्वरूप से
ही अपने कारण से गंध के समान उत्पन्न होने से] अन्यथा गंध भी एक साथ नाना देशों में
रहने वालों के धारणन्दिय को नहीं प्राप्त हो सकता, अव्यापी एक के ही लोष्ट के समान
नाना देशस्थ पुरुषों के धारणन्दिय की प्राप्ति नहीं होने से [अतः प्रवचन को अपौद्वलिकत्व
सिद्ध नहीं होता] अतः संपूर्ण भावों के अधिष्ठान अनेकान्त, परिणाम, मार्ग स्था उसके विषय
का प्रतिपादक प्रवचन अविसंबादी है और जो अविसंबादी है, उसको प्रमाण कहा गया
है ॥152॥

तत्त्व स्वविषयेऽनेकातादी तत्प्रत्यनीकधर्मसद्वितीये वर्तमानं सप्तमंग्या
प्रवर्तते [तद्यथा—स्यादनेकात्मैव भाव, स्यादेकात्मैव, स्यादुभयात्मैव, स्यादवक्तव्य
एव, स्यादनेकावक्तव्य एव, स्यादेकात्मावक्तव्य एव, स्यादुभयात्मावक्तव्य
एवैति ॥153॥

^१ नृभिः ।

^२ अन्यथा नानादिगमेमुखप्रवृत्तिकसदृशानेरियस्वरूपत्याभाषे ।

यह प्रवचन अपने विषय अनेकान्तादि में उसके विलङ्घ धर्म के साथ रहता हुआ सप्तभंगी के द्वारा प्रवृत्त होता है। वे सात भंग इस प्रकार हैं—स्यादनेकात्मैव भावः, स्यादेकात्मैव, स्यादुभयात्मैव, स्यादवक्तव्य एव, स्यादनेकात्मवक्तव्य एव, स्यादेकात्मावक्तव्य एव, स्यादुभयात्मावक्तव्य एव ॥153॥

अनेकात्मतप्रत्यनीकयोद्दित्यासदाश्रयावुभावेव भंगादुपपन्नौ कथमसी सप्त भंगा इति चेत् न, प्रतिपित्सातावरत्वेन तदुपपत्तेः । तथाहि—अनेकात्मनस्तप्रत्यनी—कस्य च प्रत्येकमुभयोः क्रमेण युगपच्य प्रतिपित्सायां प्राथमिकाश्चत्वारो भंगाः, प्रथमभंगत्रयस्य क्रमेणावक्तव्यत्वेन सह बुभुत्सायामपरे त्रयो भंगा इति एवं परिणामादावपि सप्रत्यनीके भंगसप्तकमुन्नेतव्यम् ॥154॥

अनेकान्त और उसके विपरीत एकान्त दो के होने से उनके आश्रय से दो ही भंग किछी होते हैं ये सात भंग क्यों कहें? यह कहना सभीधीन नहीं है, जानने की इच्छा के कारण उसकी उत्पत्ति होने से। अनेकान्तात्मा और एकान्तात्मा के अलग—अलग कम से और युगपत् जानने की इच्छा से प्राथमिक चार भंग, प्रथम तीन भंग का कम से अवक्तव्य के युगपत् जानने की इच्छा से बाद के तीन भंग इस प्रकार इसी प्रकार परिणाम आदि में भी विपरीत के साथ सात भंग बना लेने आहिये ॥154॥

न चैव भगतिरस्य वर्किरुपर्व वदति प्रथमादेदितीयादिना योगे
तृतीयाद्यंतर्भावस्य बहुलं पुनरुक्तस्य^१ चोपनिपातात् । तत्र युक्तमिदं—
‘सप्तभंगीप्रसादेन शतभंगयपि जायते ॥’ इति प्रकृतधर्मविधिप्रसिद्धान्यामेव
तदनुत्पत्तेजीवादिपदार्थगततदपरानेकधर्मविधिवच्छेदबलालंबेन तदवकल्पनाया—
मत्यल्पमिदं शतभंगीत्यादि, ततः सहस्रभंगयादेवपि संभवात् । एवकारोऽत्र
शर्वत्रायोगव्यवच्छेदाय सर्वमनेकात्मैव नान्यथेति, एवमन्यत्रापि ॥155॥

इस प्रकार सात के अतिरिक्त अन्य भंग की कल्पना भी नहीं होती, प्रथमादि को द्वितीयादि के साथ मिलने पर तृतीयादि भंग बनता है, किर तृतीय भंग के साथ प्रथमादि भंग का योग करने पर पुनरुक्त का प्रसंग होने से। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सात भंग के प्रसाद से सौ भंग भी हो जाते हैं, प्रकृत धर्म के विधि और प्रतिषेध के द्वारा ही उनकी उपपत्ति नहीं होने से। जीवादि पदार्थ गत अनेक धर्मों के विधि और प्रतिषेध के उनकी उपपत्ति नहीं होने से। सभी भंगों में एककार का प्रयोग अनुचित मेल का निश्चकरण भंग की भी संभवना होने से। सभी अनेकान्तात्मा ही हैं, अन्यथा नहीं, इसी प्रकार द्वितीयादि भंगों में भी। जैसे सभी एकान्तात्मा ही हैं, अन्यथा नहीं आदि ॥155॥

तस्याद्यनेकात्मादिपदादेव प्रतिपत्तुमसामर्थ्यं भवत्वयं कस्य^२ चित्सामर्थ्यं तु
किमनेनेति चेत् न, तदाप्यप्रयोग एवेति नियमामावात् कथं तदभावः
प्रतीतार्थप्रयोगस्य दोषत्वादिति चेत्, कथमिदानी द्वावपूषी त्वं पद्मसीत्यत्र

^१ प्रथमभगंस्य तृतीयभंगेन सह योगेन पुनरुक्तत्वभस्तित्वद्यात् ।

^२ भगेषु ।

^३ द्वितीयादिभंगोष्ठपि ।

^४ पुस इति शेषः ।

द्वौपदत्वं पैदयोः प्रयोगो विना ताम्यां लदथेप्रतिपत्तेः | लोके गुरुलाधर्वं प्रत्यना-
 दशादिलि चेत्, सिद्धमेवकारप्रयोगस्याणि निर्दोषत्वं | तत्त्वानेकात्मत्वं भावस्य
 स्यात्कथंचिद्द्वौर्मलपेणैव न धर्मिरूपेण तस्यैकस्यैव शब्दादिरूपस्य प्रतीतेरे-
 कात्मत्वमपि धर्मिरूपेणैव, न धर्मरूपेण, तस्यापि तत्रानित्यत्वकृतकप्रयत्नानंतरीय
 तत्त्वादिरूपस्यानेकस्यैव प्रतिपत्तेः | कल्पनैव^१ सा नवस्तुतत्त्वावभाहिनी बुद्धिरिति चेत्
 न, कल्पनाया^२ एवाभिलाप्यानभिलाप्यस्वभावायाः स्याद्वादविद्वेषे सत्त्वनुत्पत्तेः |
 कल्पनायां न तद्विद्वेष इति चेदन्यत्रापि न स्यादविशेषत् | एवमुभयात्मकत्वमपि
 स्वगताभ्यामेव धर्मधर्मिभ्यां कम्बुभुत्साविषयाभ्यां न भावात्तरगताभ्यामवक्तव्यत्वमपि
 ताम्यां युगपदेव न क्रमेण^३ नापि पदांतरेण तेन युगपदपि शतृशानयोः
 सच्छब्देनेव बक्तव्यत्वसंभवात् | एवमुत्तरत्रापि स्यात्रिपाताप्रसंगनिवृत्तिरवयांतव्या |
 भवतु नाम हेयोपादेयतत्त्वस्य^४ सौपायस्य प्रवचनेन प्रतिपादनं तत्परिङ्गानस्य
 निःश्रेयसनिबंधनत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वादनेकांतं परिणामयोः किमभिधानेनेति चेत् न,
 हेयादितत्वस्य तत्त्वापृत्तज्ञापनार्थत्वात्, तस्य न ह्यनेकात्मपरिणामयिकलं
 तत्संभवति यस्तु मात्रस्यापि तत्त्वात्स्यैवोपपत्तेनिरूपितत्वात् | तथा
 चानेकांतन्यायविद्विषां तदभावेन तदव्याप्तस्य

हेयादितत्त्वस्याप्यनुपपत्तेस्तत्प्रवचनानां तदभासत्त्वमभिहितं भवति | ततः स्थितं
 युक्तिशासनाविरोधेन सकलभावाधिकरणानेकांतपरिणामनि:श्रेयसमार्गतद्विषय-
 लक्षणस्य सत्यचतुष्टयस्य यथावदभिधानादन्ययोगव्यवच्छेदेन भगवज्जन-
 शासनमेव प्रमाणमिति || 156 ||

शंकाकार कहते हैं—अनेकान्तात्मा आदि पद से ही जानने की समर्थता नहीं होने पर एककार का प्रयोग कर लिया जाय किंतु किसी व्यक्ति की जानने की समर्थता होने पर एककार के प्रयोग की क्या आवश्यकता है? यह कहना ठीक नहीं है। सामर्थ्य होने पर भी उसका प्रयोग नहीं हो हो, ऐसा कोई नियम नहीं होने से। नियम का अभाव क्यों है? प्रतीतार्थ के लिये प्रयोग का दोष होने से, यदि यह कहते हो तो फिर द्वावपूर्ण त्वं पचसि यहां द्वौ और त्वं इन दोनों पदों का प्रयोग क्यों किया गया है, इन दोनों पदों के बिना भी अर्थ की प्रतिपत्ति होने से। संसार में गुरु और लघु के प्रति अनादर होने से यदि यह कहते हो तो एककार के प्रयोग को भी निर्दोषपना सिद्ध हो जाता है। एकार्थ का वह अनेकात्मत्व कथंचित् धर्मरूप से ही है, धर्मी रूप से नहीं, धर्मी के शब्दादिरूप एक की ही प्रतीति होने से। एकात्मत्व भी धर्मी रूप से ही है, धर्मरूप से नहीं धर्मरूप के भी अनित्यत्व, कृतकत्व, प्रयत्नानंतरीयत्व आदि रूप अनेक की ही प्रतिपत्ति होने से। अनेक और एकरूप विषयक यह कल्पना ही है, वस्तुतत्व को ग्रहण करनेवाली बुद्धि नहीं है, यह कहना भी उचित नहीं है, अभिलाप्य या अनभिलाप्य स्वभाववाली कल्पना का स्याद्वाद से विरोध होने पर नहीं होने

^१ द्वाविति पदं च त्वभिति पदं च द्वौपदत्वं।

^२ अनेकैकत्वविषया।

^३ ‘धीरिंकत्वाविकल्पात्मा बहिरक्षण किं पुनः। निश्चयात्मा स्वतः सिद्धधैर्यतोऽप्यनवस्थितिः।’

^४ स्वरूपापापेकश्च।

^५ भार्गविषयभूतसाततात्वस्य।

मेरे कल्याण में स्थानाद से विरोध नहीं है, यदि वह कहते हों तो अन्यत्र भी नहीं होना चाहिये, समझता होने से इस प्रकार उभयात्मकत्व भी कम की अपेक्षा कथन करने की इच्छा से धर्म और धर्मी के स्वयं के द्वारा ही होता है, अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं अवकल्यापी धर्म और धर्मी के युगपत् कथन करने की इच्छा होने पर होता है, कम से अथवा दूसरे पद भी धर्म और धर्मी के युगपत् कथन करने की अपेक्षा से तो युगपत् भी सत् शब्द से शत् शब्द प्रत्यय के सम्बन्ध के कारण नहीं अन्य पद की अपेक्षा से तो युगपत् भी सत् शब्द से शत् शब्द प्रत्यय का वक्तव्य संभव होने से इसी प्रकार आगे के भंगों में भी स्थान के प्रयोग से असिप्रसंग का विवारण समझना चाहिये विभक्ति कहसे हैं—प्रवचन में मोक्ष के उपायमूल हेयोपादेय रूप सात तत्वों का प्रतिपादन तो ठीक है, उसके ज्ञान को मोक्ष का कारण रूप से पुरुषार्थ का हेतु होने वाले का प्रतिपादन तो अनेकान्त और परिणाम के कथन की वजा आवश्यकता है? आवार्य कहते हैं, ऐसा कहना से अनेकान्त और परिणाम से कथन की लिए उसके कथन ठीक नहीं है—हेयादितत्व की अनेकान्त और परिणाम से व्याप्तता दिखाने के लिए उसके कथन की आवश्यकता है अनेकान्त और परिणाम से शहित हेयादितत्व की हेयोपादेयता संभव नहीं है वरतुमात्र को अनेकान्त और परिणाम से व्याप्त निरूपित करने के कारण अनेकान्त न्याय से हेय रखने वालों के यहां अनेकान्त और परिणाम का अभाव होने से उससे अव्याप्त हेयादि तत्वों की उपपत्ति नहीं होने से उनके प्रवचनों को आगमभासत्व कहा गया है। अतः युक्ति और शास्त्र से विरोध नहीं होने के कारण संपूर्ण पदार्थी के आवार अनेकान्त, परिणाम मोक्षमार्ग और उसके विषय लक्षण वाले सत्यतुल्य का यथार्थ कथन करने से, अन्यशासन का खुलना करने से भगवान् जिनेन्द्र का शास्त्र ही प्रमाण है। ॥५६॥

श्रेयः श्रीजिनशासनं यदमलं बुद्धिर्मम स्तादम् ॥

द्वीची नित्यमनुत्तराव्यदमुईची से रुचिर्वर्द्धताम् ॥

आ संसारपरिक्षयादमुमुईची भावना भावतो

भूयान्मे भवबंधसंततिमेमामुच्छेतुमिक्षावतः ॥

जो निर्मल कल्याणकारी जिनेन्द्र भगवान् का शासन है मेरी बुद्धि उसे प्राप्त करे नित्य असाधारणता को प्राप्त मेरी रुचि भी बढ़ती रहे इस भव परंपरा को नष्ट करने की इच्छा रखने वाली और भावना करने वाली मेरी भावना संशरण के नष्ट होने सक वृद्धि को प्राप्त होती रहे।

इति श्रीमद्भगवद्गीताराजसूचिप्रणीते प्रमाणनिर्णयनान्मि न्यायग्राथे
आगमनिर्णयः ।
। समाप्तं श्रीप्रमाणनिर्णयः ॥
। शुभं भवतु ॥

इस प्रकार भगवान् गीताराजसूचि द्वारा प्रणीत प्रमाण निर्णय भासक ग्रंथ में आगम निर्णय वर्णन हुआ ॥

प्रमाण निर्णय ग्रंथ समाप्त हुआ ।
— शुभ हो ॥

अमुदीची, अदोऽन्ति प्राप्तोतीत्यमुदीची, यथा विभवग्रीची अदमुईची, अमुमुईची इसि प्रयोगाचयि प्राप्त्यर्थेऽदशब्दाद्यवत् एतीरिति प्रयोगीः “गीताराजमनुशास्त्रिकालोक” इति रसुति साक्षात्कृतर्थी भवति ।